CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चौमासा

5-4

Dr. Urmila Sharma Collection (Varanasi)

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चौमासा

वर्ष 6 अंक 17 जुलाई–अक्तूबर 88

आदिवासी तथा लोक कला, साहित्य और संस्कृति
पर केन्द्रित चौमासिक प्रकाशन

सम्पादन परामर्श मंडल
प्रो. श्यामाचरण दुबे, श्री रामनारायण उपाध्याय
श्री निरंजन महावर

सम्पादक
कपिल तिवारी

छायाचित्र /घनश्याम शर्मा

एक प्रति 4 रुपये वार्षिक 12 रुपये

सम्पर्क–मध्यप्रदेश आदिवासी लोक कला परिषद्,
प्लाट नं. 17, मालवीयनगर फोन–61039

मध्यप्रदेश आदिवासी लोक कला परिषद का प्रकाशन

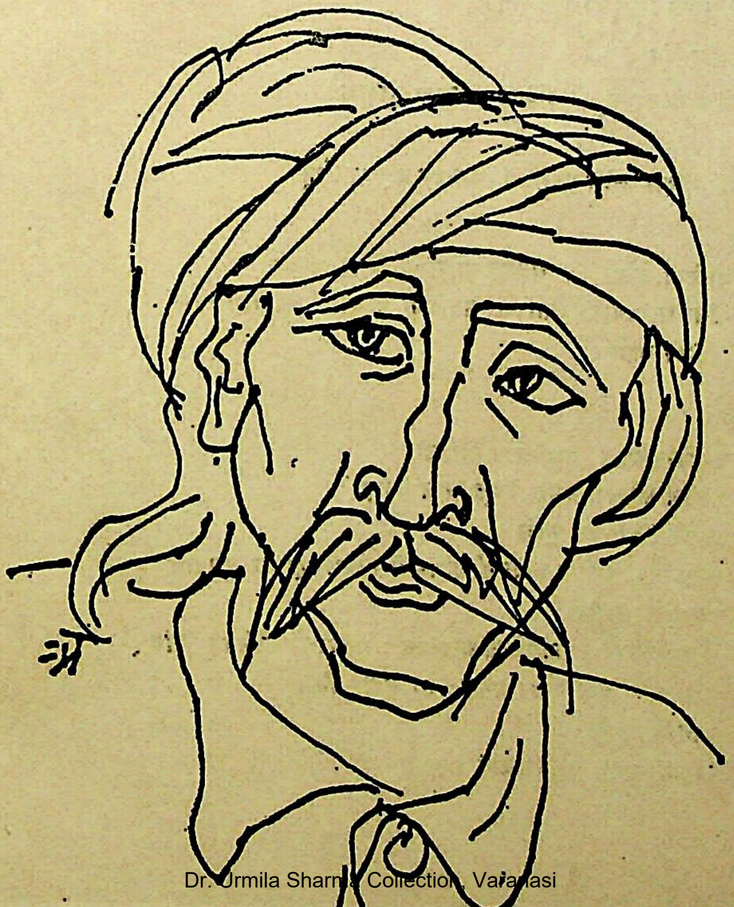

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस अंक में

विशेष लेख

लोक दर्शन और बुन्देलखण्ड/डॉ० नर्मदा प्रसाद गुप्त
मेवात की लोक संस्कृति/डॉ० जीवन सिंह
कुमाऊं की जनजातियां/डॉ० देवसिंह पोखरिया

विधाएं

छत्तीसगढ़ी लोक नाट्यःरहस/नवल शुक्ल
कठपुतली: विरासत और वर्तमान स्वरूप/सुनील मिश्र
लोक साहित्य में सोना-रूपा/श्याम सुन्दर घोष
बुन्देलखण्ड की फागें/ललित मोहन

बहस

संस्कृति से साक्षात्कार और नयी सभ्यता/डॉ० जीवन सिंह

विचार मंच

वाचिक परम्परा/डॉ० विद्यानिवास मिश्र

साधना और संघर्ष

कठपुतली मेरा ही शरीर है / नवाब अली से नवल शुक्ल की बातचीत
कठपुतली हमारे देश की पुरानी विरासत है / बद्रीलाल सोनी से सुनील मिश्र की बातचीत

आकार और रंग

लोक आभूषणों की बुन्देली परम्परा/मुश्ताक

संचय

सरगुजिया लोक पहेलियां / बजरंग बहादुर सिंह

अनुवाद

माड़िया हत्या एवं आत्महत्या/ले० वेरियर एल्विन
नौंवा अध्याय/पारिवारिक संबंधियों के बीच अपराध/अनु० निरंजन महावर

विविधा

दण्डकारण्य/ पं. सुन्दरलाल त्रिपाठी
सौन्दर्य की नदी नर्मदा/अमृत लाल वेगड़
जगार 88/नवल शुक्ल
सोनसागर/लोरिक चन्दा की प्रेममयी गाथा/महावीर अग्रवाल
संपदा 88/अर्चना
लोक कलाओं का प्रतिष्ठित आयोजन : लोकरंजन/अभिनव तैलंग
भोपाल में कथा गायन प्रसंग 88/ सुनील मिश्र
रहस/वसंत निरगुणे
पंडवानी प्रसंग 88/राजीव सक्सेना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विशेष लेख

लोकदर्शन और बुन्देलखण्ड

डॉ. नर्मदाप्रसाद गुप्त

लोकदर्शन लोकसंस्कृति की आत्मा है, जो उसे चेतना की संजीवनी देकर हमेशा जीवित रखती है। प्राणद्रव होते हुए भी लोकदर्शन अभी तक अछूता रह गया । उस पर न तो दार्शनिकों का ध्यान गया और न लोकसंस्कृति के विद्वानों का । वे तो विशिष्ट दर्शनों के अनुशीलन में लगे रहे और सिद्धान्तों के तंग गलियारों में भटकते रहे, लेकिन उन्होंने आम आदमी के दर्शन को नजर उठाकर नहीं देखा । अगर गहराई में जाएँ, तो लोकदर्शन लोकसंस्कृति का मस्तिष्क है और लोकदर्शन के बिना लोकसंस्कृति का अध्ययन करना सम्भव नहीं है । इस वजह से यहाँ पहली बार लोकदर्शन की आख्या और ऐतिहासिक विकास-दिशा का आकलन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

स्वरूप और वैशिष्ट्य

दर्शन और लोकदर्शन में दर्शन या सम्यग्दर्शन की समानता तो है, लेकिन दोनों में एक खास अन्तर यह है कि दर्शन किसी विशिष्ट विचारक द्वारा एक विशिष्ट दार्शनिक मत के रूप में प्रतिपादित होता है और उसके अनुयायी या तो विशिष्ट दृष्टिकोण या प्रवृत्ति स्वमेव निर्मित कर एक निजता प्रतिष्ठित कर लेते हैं अथवा फिर एक सम्प्रदाय बना लेते हैं, जबकि लोकदर्शन विचारक या वर्ग-विशेष का दर्शन न होकर लोक का दर्शन होता है और वह सदैव अनामधारी एवं सम्प्रदायमुक्त रहता है । वस्तुत: विशिष्ट दार्शनिक समय-समय पर देशकाल की जरूरतों के अनुसार अपना दार्शनिक मत या मान्यताएँ रखते हैं, लेकिन उनके बासी होने पर फिर कोई अन्य नये मत की प्रतिष्ठा करता है और इस तरह दर्शन का विकास होता रहता है । उनके विचार किसी न किसी माध्यम से लोक तक पहुँचते हैं और लोक उनमें से चुनाव करता हुआ उपयोगी और सहज विचारों को अजाने ही ग्रहण करता है । साथ ही परम्परित विचारों को परखकर नये विचारों से उनका समन्वय करता है और लोक के बीच प्रस्फुटित विचारों का भी स्वागत करता है । उपयोगिता और लोकहित की कसौटी पर खरे उतरने वाले विचार लोकमान्य होकर लोकदर्शन की संज्ञा प्राप्त करते हैं । इस तरह लोकदर्शन में परम्परित, विशिष्ट दार्शनिक मत से गृहीत और लोक के बीच से प्राप्त विचारों का समन्वय होता है और समन्वय की यह प्रक्रिया लोक द्वारा अपने आप होती है ।

समन्वय की इस भूमिका पर एक प्रश्न खड़ा हो जाता है कि लोक तो चिन्तन करता नहीं है, फिर क्या लोकदर्शन दर्शन कहा जा सकता है । चार्वाक, माध्यमिक, योगाचार आदि नास्तिक और न्याय, सांख्य, वेदान्त आदि आस्तिक दर्शनों के अपने-अपने चिन्तक और प्रवर्तक रहे हैं और उनका चिन्तन लिखित रूप में उपलब्ध है। किन्तु लोकदर्शन ये दोनों शर्तें पूरी नहीं करता । असल में लोकदर्शन की प्रक्रिया सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक है, जिसे समझने के लिए लोक से साक्षात्कार करना आवश्यक है । अंचल के लोक में हर तरह के व्यक्ति होते हैं और सब अपनी क्षमताओं के अनुरूप चिन्तन-मनन करते हैं । व्यक्ति के विचार वैयक्तिक होते हैं, जो उसकी कविताओं कहानियों आदि रचनाओं, विविध लोकोत्सवों पर उसकी भागीदारी, लोक में उसके द्वारा सम्पादित कार्यों, अपने विचारों की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति आदि से जाने जाते हैं । जब वैयक्तिक विचार लोक द्वारा स्वीकृत हो जाते हैं और लोक उन्हें अपना बना लेता है, तब वे लोकदर्शन के अंग बन जाते हैं । अब एक दूसरा प्रश्न है कि लोकदर्शन का पता कैसे चले और उसकी अभिव्यक्ति कहाँ होती है । उत्तर में लोककाव्य, लोककथाएँ, लोकनाट्य, लोकोक्तियाँ आदि लोक साहित्य के विविध अंग; लोकचित्र, लोकमूर्ति आदि लोककलाएँ; लोकसमाज, लोकपंचायत, मेले, लोकोत्सव आदि लोकसंस्थान; लोकदेवों की पूजा, व्रत-उपवास, लोकपर्व आदि धार्मिक मान्यताएँ तथा लोकमूल्यों या लोकादर्शों के अनुरूप लोकाचरण जैसे लोक व्यापार गिनाये जा सकते हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सैद्धान्तिक दुरूहता, जटिलता और साम्प्रदायिकता लोकदर्शन में नहीं होती। वह सरल, सहज, समन्वयकारी और व्यावहारिक होता है, क्योंकि लोक का सोच लोकजीवन से ही सोते की तरह फूटकर निकलता है। लोक की आस्था और विश्वास का प्रमुख आधार लोकदर्शन है और लोकदर्शन ही लोकधर्म और लोकमूल्य का मार्ग प्रशस्त करता है। लोकदर्शन की गति धीमी हो सकती है, लेकिन उसकी संकल्पित दृढ़ता लोक के निर्माण को पक्का करती है। लोकदर्शन बदलता है, तो लोक बदलता है और लोक तो लोकदर्शन। इस तरह दोनों का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि लोकदर्शन की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

उद्भव और विकास

लोकमन का जन्म तभी हुआ जब लोक बना और लोक तभी बना, जब मानव ने लोक के बारे में सोचना शुरू किया। पहले बहुत छोटे-छोटे समूह थे, फिर धीरे-धीरे कई समूह एक साथ गुफाओं में रहने लगे। जैसे ही खेती करना शुरू हुआ, मैदानों में बस्ती बसने लगी। गुफा और कृषि-युग दोनों में लोकदर्शन का स्वरूप जागतिक रहा है। गुफा-युग में उसका आधार रक्षा और भय का समाधान है; जबकि कृषि-युग में सृजन और संवर्द्धन की समस्या। बुन्देलखण्ड में आर्येतर वन्य जातियाँ-पुलिन्द, निषाद, शबर आदि निवास करती थीं। समुदाय में रहते हुए उन्हें उतना ही जगत मालूम था, जितना उन्होंने अपनी आँखों से देखा था। प्रत्यक्ष या ऐंद्रिक ज्ञान ही उनके अनुभवों का केन्द्र था। इसलिए उन्हें जगत में दो तरह की वस्तुएँ मिलीं-उपयोगी, जो भोजन, पेय, प्रकाश आदि देती थीं और घातक, जो शारीरिक दुख और मृत्यु का कारण सिद्ध हुईं। दोनों को सजीव मानकर उन्हें प्रसन्न करने की भावना ही उनके लोकदर्शन का सत्य था। कृषि-युग में एक दूसरा सत्य भी उससे जुड़ गया और वह था सृजन के रहस्य का ज्ञान। पुलिन्द और शबरों की मातृदेवी और भूदेवी की पूजा से प्रकट है कि इस जनपद में सृष्टि के रहस्य को समझने और सृजनशक्ति को सर्वोपरि मानने का प्रयास हुआ था। कृषि-युग में जीवन की तकनीक पूरी तरह बदल चुकी थी, इसलिए लोकमूल्यों, लोकदर्शन और लोकधर्म में परिवर्तन स्वाभाविक था।

रामायण-काल में दार्शनिक ऋषियों के द्वारा वैदिक दर्शन का प्रचार-प्रसार हुआ था, लेकिन इस जनपद पर उसके प्रभाव के प्रामाणिक साक्ष्य नहीं मिलते। इसी तरह नाग-वाकाटक युग के पूर्व किस तरह का दार्शनिक विकास यहाँ हुआ, उसका अनुमान ही किया जा सकता है। वैदिक, ब्राह्मण, जैन, बौद्ध दर्शनों एवं तन्त्रवाद ने अपनी दार्शनिक मान्यताओं को यहाँ भी फैलाया और यह निश्चित है कि लोक ने उनका आस्वादन किया था। लेकिन यक्षकालीन मान्यताएँ अपनी निजता को सुरक्षित रखे रहीं। इस समय ("गाँव-गाँव को ठाकुर और गांव-गांव कौ बीर" से) ठाकुर (गौंड़ों के ग्रामदेव) और बीर (यक्षदेव) की महत्ता थी। गौंड़ों का प्रभाव इस प्रदेश पर इतना अधिक रहा है कि इनका नाम 'गौंड़वाना' और 'गुड़ाना' रहा है। गौंड़ों के लोकगीतों से पता चलता है कि सृष्टिकर्ता तो परभू (प्रभू) भगवान हैं और उसकी माया लीलाएँ करती रहती हैं। (धन-धन परभू जी की माया हो, देखो संसार में कैसी लीला छाया है)। लेकिन संसार की सत्ता बड़कादेव के हाथ में है। एक लोककथा के अनुसार बड़कादेव ने जिसे हल और नागर दे दिया, वह गौंड हो गया; जिसे मछली का जाल, वह केवट; जिसे लेखनी, वह ब्राम्हण और जिसे तलवार, वह क्षत्रिय हो गया। मानव का शरीर क्षणभंगुर है, उसका कोई ठिकाना नहीं (तन नैहा ठिकाना)। हँसारूप जीव प्रियतम के दर्शन के लिए गाँव की गली-खोर में फिरता रहता है और उनके बिना रात में ही उड़ जाता है। जश गीत गौंड़ों के धार्मिक गीत हैं, जिनमें उनके देवों का यश रहता है। उनके देवी-देवता अनेक हैं, खैर-खूंट-मुठिया देव से लेकर सूरज देवता तक। लेकिन अधिकाँश देव सांसारिक हैं, किसी न किसी सांसारिक बाधा या शुभ व्यापार से जुड़े हुए। सभी आदिवासी भय, रक्षा और उपयोगिता की चिन्ता करते हैं। उनके लिए यह जगत ही सब कुछ है, परलोक की कल्पना पर उन्हें भरोसा नहीं। इस प्रकार यक्षकाल का लोकदर्शन सीधा-सरल, व्यावहारिक और जागतिक है।

यक्ष की पूजा अमृत के लिए की जाती थी। लोकविश्वास था कि यक्ष के पास अमृत है, जिसे पानकर मनुष्य "अमर" हो जाता था। अमरत्व का अर्थ है-काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहंकार और शरीर को अपने वश में करने से प्राप्त सुख। महाभारत के एक श्लोक में (मोक्षधर्म, १७१/५२) यही अर्थ दिया गया है, जिससे स्पष्ट है कि पहले यक्ष-पूजा से यही सुख प्राप्त करने का उद्देश्य रहा होगा, लेकिन बाद में उसके प्रतीक "अमरत्व" को ही लोक ने मान्य कर लिया था और यह प्रचलित हो गया था कि कुबेर या यक्ष के पास अमृत का घट है। इससे यह भी अर्थ निकलता है कि उस समय मानव की अमरता के बारे में सोचा जाने लगा था। मानव वृद्ध होकर जवान बन सकता है और अंधा भी नेत्र प्राप्त कर सकता है। महाभारत में कहा गया है-'यत् प्राश्य पुरुषो मर्त्यो अमरत्वं निगच्छति। अचक्षुर्लभते चक्षुर्वृद्धो भवति वै युवा। मनुष्य की वृद्धता और मृत्यु एक समस्या बनी हुई थी, जिसका हल यक्ष-दर्शन में मौजूद था। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि भगवान बुद्ध ने भी मानव की इन्हीं समस्याओं को सुलझाने के लिए एक नया दर्शन दिया था। लोकदर्शन की कोख से ही शास्त्रीय दर्शन जन्मने का यह प्रमाण दोनों तरह के दर्शनों के संबंधों को स्पष्ट करता है।

बौद्ध धर्म और दर्शन में लोकतत्वों का समावेश किया था, यहाँ तक कि यक्ष-पूजा और यक्ष-दर्शन भी मान्य कर लिये गये थे। लेकिन जैसे ही बौद्ध धर्म विजातीय तत्वों से जुड़ा, उसके विरुद्ध एक व्यापक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रतिक्रिया हुई और एक नये धर्म एवं दर्शन ने जगह ली। नाग और वाकाटकों ने शैव और गुप्तों ने वैष्णव धर्म की पताकाएं फहरायीं। नाग-वाकाटक काल में ही यक्ष-दर्शन का स्थान शैव-दर्शन ने ले लिया। बुन्देलखण्ड की निषाद जातियों में शिव के भयंकर रूप की उपासना पहले से प्रचलित थी, यही कारण है कि यहाँ भैरव रुद्र लोकमान्य थे। यक्षदेव पूजित रहे, लेकिन यक्षों में वह संहारकारी रूप नहीं था, इस कारण विदेशी आक्रमण होने पर शिव का रौद्र रूप उभरा। लोक में यक्षों के स्थान पर शिव के चौरे बनना शुरू हुए। एक व्यापक परिवर्तन इसी समय आया, जिसने लोकसंस्कृति, लोकधर्म और लोकदर्शन में नये युग का प्रवर्तन किया।

नाग और वाकाटकों के इतिहास, विदिशा और पवाँया में प्राप्त प्राचीन अवशेषों तथा तत्कालीन ग्रंथों से पता चलता है कि उस समय शिव, विष्णु, सूर्य, यक्ष देवों और गंगा, नन्दी, गाय आदि परिकरों की उपासना प्रचलित थी और सबके समन्वय से धार्मिक एकता की भावना सर्वोपरि थी। लोकजीवन में इसी समन्वयवादी लोकधर्म और लोकदर्शन का स्वरूप मिलता है। लोक एक ब्रह्म को मानता हुआ उसके सभी अवतारों को एक-सी श्रद्धा देता था। शैवों की योग-साधना और त्यागमय जीवन, वैष्णवों की भक्ति और यक्षों की भुक्ति का समन्वयकारी रूप लोकदर्शन में भी मिलता है। लोगों को विश्वास था कि मानव शरीर दुखमय और नश्वर है, लेकिन उसी के द्वारा जगत के सुखों का भोग और दुखों से मुक्ति संभव है। इसलिए मनुष्य को साधना द्वारा उसे दोनों के योग्य बनाना चाहिए। यह जगत सुख-दुख-मय है। माया से छुटकारा तभी मिलता है, जब मानव संसार में रहते हुए त्याग और वैराग्य का जीवन बिताता है और ईश्वर या उसके अवतार के प्रति भक्ति-भावना रखता है। इस तरह ज्ञान, कर्म और भक्ति की समन्वित दृष्टि अपनाकर तत्कालीन लोक ने धार्मिक और सांस्कृतिक एकता को वैचारिक सम्बल दिया था।

आठवीं-नौवीं शती में शंकराचार्य ने एक दार्शनिक क्रान्ति की थी और अद्वैतवाद के रूप में नये दर्शन का प्रसार किया था, जो आज भी भारतीय दर्शन का मूल है। साथ ही वह भारतीय लोकदर्शन की रीढ़ भी है। दसवीं से लेकर चौदहवीं शती तक चन्देलों ने इस प्रदेश को एकता, दृढ़ता और सुख-समृद्धि प्रदान की थी। उन्हीं के समय बुन्देली लोकभाषा जन्मी और लोककाव्य का विकास हुआ। एक तरफ प्रबोध-चन्द्रोदय, रूपक षटकम जैसे संस्कृत ग्रंथ रचे गये, तो दूसरी तरफ लटकनिया फाग दिवारी की साखें, देवी गीत, कारसदेव की गोटें और गहनई जैसी चारागाही गाथाएँ, कजरियन के राछरे और आल्हा जैसा लोकमहाकाव्य। चन्देल नरेशों ने शिव और विष्णु के मन्दिर खड़े किए, तो मनियाँदेव, आदि भवानी, चंडिका, भैरव, पार्वती या गौरा, शंकर आदि हर घर-गाँव में पुजने लगे। प्रबोध-चन्द्रोदय और रूपक षटकम् से मालूम होता है कि इस समय जैन, बौद्ध, कापालिक, चार्वाक आदि विभिन्न दार्शनिक मतों का खण्डन और वैष्णव मत का प्रतिपादन हो रहा था तथा उच्च वर्ग इसी मतभेद, विवाद एवं ऐक्य के प्रयासों में उलझा था। लेकिन लोकगीत, लोकगाथाएँ और राछरे इस तथ्य के प्रामाणिक गवाह हैं कि लोकदर्शन में न तो इस तरह का विद्वेष और विवाद था और न इस तरह का उलझाव। लोक के देवी-देवता भले ही घर-घर और गाँव-गाँव के हों, पर उनके संबंध में लोकचिन्तन एक-सा था। युग की परिस्थितियों के अनुरूप वैचारिक एकता को बनाये रखने का संकल्प। आल्हा की कुछ पंक्तियाँ देखें :—

> मानुस देही जा दुरलभ है आहे समै न बारंबार।
> पात टूट कें ज्यों तरवर को कमउँ लौट न लागै डार॥
> मरद बनाये मर जैबे कों खटिया पर कें मरै बलाय।
> खटिया पर कें जे मर जैहैं नाँउ डूब पुरखन कौ जाय॥
> जे मर जैहैं रनखेतन मा साखौ चली अगारूँ जाय॥

शरीर और मृत्यु का यह लोकचिन्तन तत्कालीन लोक की जागरूकता का प्रमाण है। मनुष्य का शरीर दुर्लभ वस्तु है, क्योंकि वह बार-बार नहीं मिलता। जिस प्रकार पेड़ का पत्ता एक बार टूटने के बाद फिर उस डाल में नहीं लगता, उसी प्रकार मृत्यु के उपरान्त मानव शरीर का फिर मिलना कठिन है। इसलिए पुरुष को शय्या पर पड़े-पड़े नहीं मरना चाहिए, वरन् युद्ध-क्षेत्र में मृत्यु का वरण कर यश अर्जित करना चाहिए। इस तरह की वैचारिकता इस युग की गाथाओं, राछरों और देवी गीतों में मिलती है। गहनई और कारसदेव की गोटें गोचारण गाथाएँ हैं, लेकिन उनमें भी शौर्य का आख्यान है। विदेशी आक्रमणकारियों के खिलाफ शौर्य और एकता की प्रेरणा देना उस युग के लोकदर्शन का आंतरिक लक्ष्य था। एकता के उदाहरण यात्रा गीत और दिवारी गात की पंक्तियों में देखें—

- नरबदा अरे माता तो लगै रे,
  अरे माता लगै रे तिरवेनी लगै मोरी बैंन रे, नरबदा हो....
- एक पेड़ मथुरा जमो, डार गयी जगन्नाथ रे,
  फूलो फूल जो द्वारका, फल लागे बद्रीनाथ रे।

नर्बदा और त्रिवेणी में माता और बहिन के पारिवारिक उपमान तथा मथुरा, जगन्नाथ, द्वारका और बद्रीनाथ की एकता के लिए वृक्ष का रूपक कितने सटीक हैं, इसकी कल्पना हम आज के राष्ट्रीय गीतों से कर सकते हैं। लोकदर्शन द्वारा लोक-जागरण का उदाहरण मुस्लिम इतिहासकार फरिश्ता की कलम से उद्धत है:— "हिन्दू वीरांगनाओं ने अपने जवाहरात बेच डाले, अपने स्वर्णभूषण गला डाले और इस धर्मयुद्ध के संचालन के लिए उन्होंने दूरस्थ देशों से भी अपनी सहायता भेजी।"[3]

इसके विपरीत लोकदर्शन की एक दूसरी दिशा भी थी, जिसका संकेत लोकगीतों में मिलता है। उसके अनुसार यह जगत एक धन्धा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है, मिथ्या है, माया है, इसलिए उसे नष्ट हो जाने दो—'निकरचलौं दैकें टटिया रे, अरे दैकें टटिया रे धंधे में लगन देव आग रे, निकर चलौ हो ..।" क्योंकि ब्रह्मा के दर्शन की बेला आ पहुँची है—"दरस की तौ बेरा भई रे, अरे बेरा भई रे पट खोलो छबीले भैरोंलाल हो, दरस की तौ बेरा भई...।" दर्शन के लिए भैरोंलाल यानी भैरव अथवा भैरोंनाथ यानी शिव हों, तो कोई फर्क नहीं पड़ता। दर्शन की बात अलग है, केवल स्नान से ही पाप कट जाते हैं—"सपर लेव कासी जू की झिरियाँ रे, अरे कासी जू की झिरियाँ कट जैहें जनम के पाप रे, सपर लेव हो ...।" एक गीत में "जीव" को पर्वत का सुआ (परवतवारे सुअना) और "जगत" को घर-आँगन बताया गया है। जीव को घर-आँगन अच्छा नहीं लगता (घर अँगना न सुहाय हो माँ...), इसलिए वह (तोता) उड़ जाता है और "कैलास-सिखर" में पहुँचने की इच्छा करता है। इस तरह का आस्तिक दर्शन ही लोकप्रचलित था, जो लोकगीतों में जगह-जगह उभरा है।

दरअसल गुप्त-युग से (अर्थात् ईसा की चौथी शती से) लेकर ग्यारहवीं-बारहवीं तक पौराणिक दर्शन के प्रवाह ने लोकदर्शन को बहुत प्रभावित किया था। पुराणों की प्रमुख विशेषता थी औपनिषदिक दर्शन को कथाओं में पिरोकर जनसाधारण के योग्य बनाना और ज्ञान-कर्म-भक्ति के समन्वय तथा दैवी एवं प्राकृतिक शक्तियों के सामंजस्य से दार्शनिक एकता स्थापित करना। उनमें असुरों के संहार की अनेक कथाएँ इस रूप में बुनी गयीं कि शक्ति का महत्व और महिमा लोक में छा गए। ओजत्व की इस कल्पना के साथ-साथ पुराणों ने तत्कालीन शैव, शाक्त, वज्रयानी या तांत्रिक आदि विभिन्न मतों में निहित शक्तियों को एक में संयुक्त कर एक अनुपम शक्तिपुंज खड़ा कर दिया, जो देवी के रूप में किसी भी विदेशी असुर को विनष्ट करने में समर्थ था। लेकिन पुराणों के कर्मकाण्ड इस सीमा तक जकड़ने लगे थे कि लोक में आडम्बरी प्रवृत्ति का प्रसार हो गया था। जंत्र-मंत्र, शकुन-अपशकुन, टोने-टोटके और असाधारण चमत्कारों से सम्बन्धित लोकविश्वास इतने प्रबल हो गये थे कि कर्मनिष्ठा तक प्रभावित होने लगी थी। इन सीमाओं के बावजूद पुराणों ने लोक को एक नई उदारता, व्यावहारिकता और अभिव्यक्ति-शैली प्रदान की थी।

पुराणों की कथाशैली का उपयोग तोमरकालीन कथाकाव्यों और लोकगाथाओं में हुआ है। कथा के द्वारा लोक को प्रेरणा देने का काम इस तोमर-काल की जरूरत थी। मुस्लिम सत्ता के कुछ केन्द्र स्थापित होने के बाद सूफी और इस्लाम दर्शन भी यहाँ पहुँच चुके थे, इस कारण लोकदर्शन को और भी व्यापक होना पड़ा। उसने एक तरफ अपनी परम्परित वैचारिकता को सुरक्षित रखा, तो दूसरी तरफ विदेशी मतों से सम्पर्क भी रखा। वैसे उच्च वर्ग यानी कि विदेशी मुसलमान हिन्दुओं को सहन नहीं कर पाते थे और हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था में सूफी या इस्लाम के अनुयायियों के लिए कोई स्थान नहीं था, लेकिन साधारण हिन्दू और मुसलमान मिलकर रहना पसन्द करते थे। इसी लोकचेतना को पहचानकर भक्तिप्रधान दर्शन शुरू हुआ। संतों ने किसी विशिष्ट सामाजिक और धार्मिक सम्प्रदाय से न बंधकर बहुदेववाद और कर्मकाण्ड का विरोध करते हुए एक ब्रह्म या ईश्वर की भक्ति को मोक्ष का साधन निरूपित किया। उन्होंने सभी तरह के भेद-भाव से मुक्त हृदय में ही ईश्वर का निवास बताकर मूर्ति-पूजा, जाति-प्रथा, छुआछूत आदि का जोरदार खण्डन किया और इस तरह एक सहज एवं सरल लोकदर्शन का प्रतिपादन किया।

दूसरी तरफ विजातीय तत्वों की कट्टरता के खिलाफ एक संघर्षमयी चेतना का उदय हो चुका था, जिसमें शैव-शाक्त-वैष्णव और अन्य दर्शनों के भेदभाव भुलाकर एकता पर बल दिया गया था और जिसके कारण बुन्देली काव्य और लोककाव्य में सम्प्रदाययुक्त धर्म और दर्शन को महत्व मिला था। ग्वालियर के सांस्कृतिक केन्द्र में रामायण, महाभारत और गीता को केन्द्र में रखकर राम-कृष्ण को ही ईश्वर मानकर उनकी कथाओं के द्वारा संघर्षधर्मी लोकचेतना को प्रेरणा दी गयी थी। बुन्देली के प्रारम्भिक भक्तिपरक लोकगीतों में इस प्रवृत्ति का आभास मिलता है। एक गीत की कुछ पंक्तियाँ देखें—

पवन जू के हनुमत हैं रखवारे।
आँधी बैहर खौं बंद करत हैं, डीलन काज सँवारे ॥ पवन जू० ॥
हमरे हनुमत ऐसें गरजत हैं, जैसें इन्दर अखाड़े ॥ पवन जू० ॥
हमरे राम जू ऐसें गरजत हैं, जैसें इन्दर अखाड़े ॥ पवन जू० ॥
हमरे किस्नजू ऐसे गरजत हैं, जैसें इन्दर अखाड़े ॥ पवन जू० ॥

बुन्देली के निर्गुनिया लोकगीतों में हिन्दी के संतकाव्य जैसी मस्ती और फक्कड़पन है। उनका ब्रह्म या पुरुष कबीर जैसा है। लोकदर्शन में कबीर-दर्शन का अनुकरण है, पर वह लोकस्तर पर सरल और सहज हो गया है और उसमें गोरख या नाथ मत का भी पुट है। इसी समय हिन्दू और इस्लाम तथा सूफी दर्शन के समन्वय के लिए कलगी-तुर्रा वाली लावनी का प्रसार हुआ, जिसमें शक्ति और शिव की पक्षधरता लेकर प्रतियोगिता शुरू हुई और दर्शन-परक संवाद से लोक में समन्वयकारी दर्शन का विकास हुआ। लोकप्रचलित जनश्रुति है कि चन्देरी राज्य के संत तुकनगिरि (मध्यदेशीय तुकनगीर) और फकीर शाह अली के बीच इसी संवाद का दंगल होता था। एक बार राजदरबार में दंगल हुआ, जिसमें चन्देरी नरेश ने प्रभावित होकर पहले को तुर्रा और दूसरे को कलंगी भेंट में दी और दोनों का सम्मान किया तभी से तुर्रा-कलंगी की फड़बाजी प्रारम्भ हुई। तुर्रा दल ब्रह्म और कलंगी शक्ति या माया को श्रेष्ठ ठहराने का प्रयत्न करता है। कलंगी पक्ष का तर्क है कि शक्ति ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शिव की उत्पत्ति का कारण है या शिव शक्ति के पुत्र हैं जबकि तुर्रा पक्ष शक्ति को शिव की पत्नी मानता है। इसी को लेकर दोनों दलों में प्रतिस्पर्धा रहती है और कुछ दार्शनिक प्रश्न उठाये जाते हैं, जो लोकदर्शन को प्रभावित करते हैं।

१५वीं शती में बुन्देलखण्ड एक उदार-व्यापक लोकचेतना का नेतृत्व करता है और अपने साहित्य एवं लोकसाहित्य द्वारा हिन्दू-मुस्लिम-एकता के द्वार खोलता है। उदाहरण के तौर पर नारायणदास के "छिताई-चरित" और बैजू-बख्शू के पदों को रखा जा सकता है। "छिताई-चरित" में अलाउद्दीन के चरित्र-चित्रण और बैजू-बख्शू के पदों में देवताओं और उनकी लीलाओं के सम्प्रदायमुक्त वर्णनों से इस समन्वय का पूरा-पूरा आभास मिल जाता है। ग्वालियर के तोमरकालीन देसी संगीत ने सूफियों को बहुत प्रभावित किया था। वस्तुतः संगीत या कोई कला किसी भी तरह के भेदभाव से दूर रहती है। इसी वजह से चन्देरी में लावनी या ख्याल गायकी में तुर्रा-कलंगी का पक्ष लेकर तुकनगिरि और शाहअली की जोड़ी बनी। बैजू और बख्शू की जोड़ी की तरह। सबसे पहला सशक्त माध्यम संगीत ही था, जिसने ग्वालियर और जौनपुर के घरानों में मेल करवाया था। जब जौनपुर पर लोदियों ने अधिकार कर लिया, तब सुल्तान के पुत्र लाडखाँ का ग्वालियर में आश्रय लेना, तोमर नरेश कल्याणमल्ल (ई. १४८०-८६) द्वारा मुसलमान नबी हजरत सुलेमान-विषयक "सुलैमच्चरित" ग्रंथ की संस्कृत में रचना और मानसिंह तोमर के दरबार में महमूद लोहंग, बख्शू आदि का संगीतपरक पदकाव्य में योगदान इस तथ्य का साक्षी है कि हिन्दू-मुस्लिम समन्वय का व्यावहारिक स्वरूप ग्वालियर की ही देन है। "मान-कुतूहल" नामक ग्रंथ में "ढफ" के प्रचलन का उल्लेख है।[7] चन्देरी पर मुसलमान शासन रहा और उसका प्रभाव संगीतकारों पर भी पड़ा। संगीत-नृत्य के अखाड़े[8] ग्वालियर में थे, चन्देरी[9] में भी प्रतिष्ठित रहे और उनसे प्रकट है कि प्रतिद्वन्द्विता की प्रवृत्ति ने कलाकारों में प्रश्नोत्तर शैली का विकास किया था। वैसे तो प्रश्नोत्तर शैली यक्षों की देन है, लेकिन इस समय अखाड़ों ने उसे उत्कर्ष पर पहुँचा दिया था। कलंगी-तुर्रा की दार्शनिकता का आधार सिद्धों और नाथों का परवर्ती चिन्तन है और ग्वालियर-क्षेत्र में नाथों के गढ़[10] मौजूद थे। इन प्रामाणिक साक्ष्यों से स्पष्ट है कि तुर्रा-कलंगी का उद्भव और विकास सबसे पहले यहीं हुआ था।

कलंगी-तुर्रा के अनुयायी और कुछ विद्वान तुकनगिरि और शाहअली को मध्यप्रदेश में चन्देरी का निवासी मानते हैं और इन आदि गुरुओं से ही दोनों दलों की परम्परा चली है। निश्चित है कि चन्देरी की कलंगी-तुर्रा शैली बुन्देलखण्ड से चलकर महाराष्ट्र, निमाड़, मालवा और राजस्थान पहुँची है। डा. श्याम परमार ने अपने लेख "तमाशा" में लिखा है कि "महाराष्ट्र में लावनी की रचना यों देखें तो पानीपत युद्ध के पश्चात विकसित हुई।'[11] इसका तात्पर्य है कि १५२६ ई. के बाद ही महाराष्ट्र में लावनी फली-फूली। उनका मत है कि "मालवा में कलंगी-तुर्रा का प्रवेश उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ।"[12] भानावत ने अपने लेख-"ख्याल" में प्रसिद्ध विद्वान देवीलाल सामर का एक उद्धरण प्रस्तुत किया है, जिसके अनुसार ख्याल की लोकधर्मी परम्परा आगरा के निकट शुरू हुई थी और वहीं 18वीं शती में राजस्थान में आई।[13] इससे स्पष्ट है कि तुर्रा-कलंगी के ख्याल आगरा के दक्षिण चन्देरी में शुरू हुए और ग्वालियर से होकर कई प्रदेशों तक फैले। ग्वालियर उस समय बुन्देलखण्ड ही नहीं, भारतीय संस्कृति का केन्द्र था और वहीं से गायकी फैलती थी।[14]

इस जनपद में संत तुकनगिरि और रिसालगिरि के तुर्रे का जोर अधिक रहा। जहाँगीराबाद के लावनी-कलाकान्त पं. हरिवंश लाल शर्मा के सुपुत्र दिनेश कौशिक ने जो वंशवृक्ष 1984 ई. के ख्याल-लावनी-समारोह की स्मारिका में प्रस्तुत किया है, उससे रिसालगिरि 17वीं शती के ठहरते हैं। बुन्देलखण्ड के ख्यालों में रिसालगिरि का नाम अवश्य आता है, इससे स्पष्ट है कि रिसालगिरि ने ही इसे उत्कर्ष दिया था और तुर्रा या वेदान्त का सरल सहज रूप ही लोकदर्शन पर छाया रहा। वसंत निरगुणे ने अपने लेख—"कलंगी-तुर्रा" में गोगावाँ निवासी तुर्रा गायक सुमेरसिंह सुमन के पूर्वज केशव वल्लभ की 1700 ई. की ख्याल रचनाओं का उल्लेख किया है,[15] जिससे रिसालगिरि की तिथि और पीछे खिसक जाती है और तुकनगिरि का 15वीं शती में होना सिद्ध हो जाता है। इस तरह दर्शनपरक लोककाव्य का उद्भव बुन्देलखण्ड में ही 15वीं शती में हुआ था, नहीं तो गोगावाँ का लोकगायन या डॉ० श्याम परमार और रामनारायण अग्रवाल जैसे दूसरे जनपदों के विद्वान चन्देरी की लोकश्रुति को इतना महत्व न देते।

मध्ययुग में भक्ति-आंदोलन से लोकदर्शन में परिवर्तन आवश्यक था। शुरू में तो वह सम्प्रदायमुक्त था, इसलिए उसने लोकचिन्तन पर जादू-सा प्रभाव डाला और राम-कृष्ण को ब्रह्म का पर्याय बना दिया। शिव पहले ही उच्च उस कोटि में मान्य थे। ब्रह्मा और विष्णु तिरोहित-से हो गए थे। लेकिन वैष्णव दर्शन का व्यावहारिक स्वरूप लोक में अपनी जड़ जमाये था। ब्रह्म, जीव, जगत और माया के सम्बन्ध पहले जैसे ही रहे, अन्तर केवल यह हुआ कि इस काल में भक्तिपरक भजन ही सबसे महत्वपूर्ण साधन बन गया। लोककवि पुकार उठा—

भजन बिन सूनी देहिया रे,
अरे सूनी देहिया, हिरदे में बसा लेव सीताराम हो....।
सुरत मोरी तुमसें लगी रे,
अरे तुमसें लगी, बंसीवाले सें लगे दोई नैन हो....।
भजन बोलो सिया रघुबर के,
अरे सिया रघुबर के, भजनई से लगा देव बेड़ा पार हो....।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राम, कृष्ण और शिव लोकदर्शन की कविता में प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं, उनका साम्प्रदायिक रूप कभी नहीं उभरा। ब्रज में विभिन्न सम्प्रदायों के बनने और उनके इस जनपद में प्रचलित होने के बावजूद लोकदर्शन में कोई जटिलता और साम्प्रदायिकता नहीं आ पाई। ईश्वर के रूप में राम, कृष्ण, शिव, विष्णु आदि में से किसी एक के प्रति सर्वाधिक आस्था होने पर भी दूसरे के प्रति श्रद्धा बनी रहती थी। तुलसी की रामचरित मानस ने समन्वयकारी चिन्तन से लोकदर्शन की अंतरात्मा को और अधिक मजबूत किया था। उसमें निहित प्रवृत्ति, निवृत्ति और नियतिपरक मान्यताएँ लोकदर्शन का ही प्रतिबिम्बन करती थीं। तुलसी की प्रमुख विशेषता यही है कि उसने लोकदर्शन की वैचारिकता को यत्र-तत्र गूंथ दिया हैं। लोक में माया के प्रति वैराग्य की भावना निवृत्तिपरक दर्शन का संकेत देती हैं जिसे लोककवि ने अपने ढंग से व्यक्त किया हैं—

बाबा भागो बिलैया झपटी।
ब्रह्मा खों झपटी बिस्नू खों झपटी, नारद मुन खों लगाइ दई पटकी।
इन्द्र खों झपटी फनीन्द्र खों झपटी, श्रृंगी रिसि के सीस पै मटकी।
गोरख खों झपटी व्यास खों झपटी विस्वामित्र के गले में अटकी॥

बिलैया रूपी माया अच्छों-अच्छों को चपेट लेती है, फिर साधारण आदमी की क्या हस्ती। इसीलिए पर्वत में रहने वाले सुआ (तोता) रूपी जीव को घर-आँगन रूपी या संसार अच्छा नहीं लगता— "उड़ चल रे परवतवारे सुअना, घर अँगना न सुहाय मोरी माँय।" अगर बिलैया से मौत का अर्थ लें, तो भी मानव जीवन की क्षणभंगुरता उभरती है और इसी वजह से संसार की अमरता प्रकट हो जाती है। कवि फिर शरीर या मानव-योनि की उपयोगिता समझ लेता है— "भजन करो सिया रघुबर के, सिया रघुबर के, ऐसी देहिया न मिलहै बारम्बार हो, भजन करो हो...।" इस रूप में प्रवृत्तिपरक चिन्तन के दर्शन होते हैं। नर-देह को पाकर पुण्य कर्म करना चाहिए और पुण्य कर्मों में त्याग-बलिदान, कर्तव्य-धर्म-निर्वाह, परहित या लोकहित आदि आते हैं। लोक ने कर्म को प्रधान माना है और लोक कहावत है—"भूखें भजन न होंय गोपाला", लेकिन उसके साथ उसने भाग्य को भी महत्व दिया है. मध्ययुग में प्रचलित अनेक लोककथाओं में भाग्य की महिमा प्रतिष्ठित हुई है, उदाहरण के लिए "भाग्य बलवान" और "अपनो अपनो भाग्य"। उसके साथ "जैसी करनी वैसी भरनी" और "पसीने की कमाई" जैसी लोककथाओं में कर्म का पलड़ा भारी है। तात्पर्य यह कि व्यक्ति को भाग्य और कर्म दोनों पर भरोसा करना चाहिए और प्राप्ति पर संतोष।

मध्ययुग की एक दार्शनिक लोरी में लोकदर्शन का बिम्ब कितना स्पष्ट उभरा है—

कोंड़ी के रे कोंड़ी के,
पाँच पसेरी के
मन-मन पीसे मन-मन खाय,
बड़े गुरू सें जूझन जाय।
उड़ गये तीतुर, बस गये मोर
सरी डुकरिया लै गये चोर।
चोरन के घर खेती भई,
सरी डुकरिया मोटी भई।
एक तीर मोये मारो तो,
दिल्ली जाय पुकारो तो।
कारे हैं करयान से,
गोरे हैं गुरयान से।
बड़े गुरू की छपन छुरी,
तासें कांपे मदनपुरी।
मदनपुरी के आये बीर,
कर में बांधे सौ-सौ तीर।
राजा के कुँअर आउत हैं,
न कोऊ छींकियो, न पादियो,
धुतू.... ...धुतू........धुतू......।

उक्त पंक्तियों में कितना गहरा अर्थ है। लोककवि कहता है कि मानव-शरीर पाँच तत्वों (पाँच पसेरी) का बना है, पर उसकी कीमत एक कौड़ी भी नहीं है। जब (यौवनावस्था आने पर) ज्ञान (तीतुर) उड़ जाता है और (उसकी जगह पर) भावुकता (मोर) बस जाती है, तब माया (सरी डुकरिया) लोभ-मोह-मद-मत्सर (चोरों) के नियंत्रण में ऐन्द्रिक सुख (खेती–इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न भोग) पाकर सशक्त (मोटी) हो जाती है। इतनी शक्तिशाली कि ब्रह्म (बड़े गुरू) की शक्ति (छपन छुरी) से काम (मदनपुरी) भी कांपता-(भयभीत) है, फिर भी काम के सैनिक इच्छा रूपी तीर चलाते हैं और काम का तीर लगने पर मन दिल्ली (परमात्मा के केन्द्रीय निवास) तक पुकार लगाता है। वहाँ बुरे लगने वाले पाप कर्म (कारे) और अच्छे (गुरयान या गुरीरे-मीठे) प्रतीत होने वाले पुण्य कर्म (गोरे) खड़े रहते हैं और (उनमें ही एक यानी पुण्य कर्म चुनने पर (ब्रह्म (राजा) के अंश अर्थात् जीव (कुँवर) आते हैं पुण्य कर्मों का साथ आत्मा देती है। ऐसे समय (आत्मा के सबल होने पर) कोई भी बाधा या अव्यवस्था (छींकना-पादना) नहीं फैलाता और यही स्थिति चरम आनन्द की है। धुतू...धुतू....एक विशेष वाद्य रमतूला की ध्वनि, जो बुन्देलखण्ड में सुखद मानी जाती है।

आत्मा की सबलता का परिज्ञान होने के बावजूद उत्तर-मध्ययुग का मानव निराशावादी होने लगा था, बिल्कुल डूंड़ा बैल की तरह, जो निम्न पंक्तियों का नायक है—

थाई–थाई थप्पी,
गैया ब्यानी बच्छी।
बच्छा भओ सेर,
नाँउ धराओ गनेस।
(शुरू की कोई अँगुली पकड़कर)
जा बाई की, जा दादा को,
जा जिज्जी की, जा नन्ना की,
जा बूढ़े बाबा की,
(हथेली पर घेरा बनाकर)
बीच को चंदा मोरो।
येई में खाओ, येई में पिओ,
येई में सब कछू करो।
डूंड़ा बैल पात की छई,
चल मेरो डूंड़ा रात भई।
चलत पारिया टूटे सींग,
बारा बरसें लादी हींग।
चल मेरो डूंड़ा रात भई,
गुलू....गुलू...लू...।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इन पंक्तियों में कहा गया है कि मानव माता (गैया) की कोख से पैदा होकर विकास (सेर भओ) करता है और उसको अच्छा-सा (गनेस) नाम मिलता है। इसके बाद उसका संबंध माँ-बाप, बहिन-भाई आदि सभी से होता है। फिर वह अपना धंधा चुनकर उसी में खो जाता है। माया और भोग (खाओ, पिओ आदि) में लिप्त वह असहाय (ठूँडा, जिसके सींग न हों) निरन्तर (बैल-सा) जुता रहता है, जबकि यह संसार पत्तों की छाया है (उसका कोई भरोसा नहीं है) और जीवन का चढ़ाव (पारिया या पहाड़ी) चढ़ते-चढ़ते मानव निरुत्साह और शक्तिहीन (टूटे सींग का) हो जाता है तथा परिश्रम के बोझ से दबा रहता है (लादी हींग)। जब मृत्यु (रूपी रात घिर आती है, तब उसे सजग होकर मुक्ति मार्ग की तरफ चलना चाहिए और इसी में उसका आनन्द (गुलू.....गुलू.. बच्चे को हंसाया जाना) है। मतलब यह कि इस समय के लोकदर्शन में निराशावादी प्रवृत्ति पनप चुकी थी।

ऊपर के दो साक्ष्यों में लोकदर्शन की क्रमिक गति दिखाई पड़ती है और वह आगे पुनरुत्थान-काल में अलग दिशा ग्रहण करती है। निराशा के अँधेरे छंटने की आशा और रात की दुरभिसंधि तोड़ने का उत्साह फिर उगने लगते हैं। लोकगीत व्यंजना में बोल पड़ता है—

बौ ददुआ मोरे बिरन जो पीहैं,
पीहैं अरे बे लैहैं असुर दल जीत।
वीरा, मोरे इन्द्र अखाड़े खेलियो॥

सावन में गरजने और भादों में बरसने से धरती में घास जम आई है। अपनी माता से खुरपी और टोकरी मांगकर युवती घास खोदने जाती है, क्योंकि उसे विश्वास है कि घास खाकर गायें गगरी भर दूध देंगी जिसे पीकर उसका भाई असुर-दल (अराष्ट्रीय तत्वों को) जीत लेगा। बुन्देली नारी का अपने भाई को अखाड़े (आजादी की लड़ाई) में भेजना ओजत्व का प्रतीक है। 1857 ई. में यही उत्साह और संकल्प था, लेकिन अंग्रेजों द्वारा पराजित और दमित होने से निराशा की वही छाया फिर घिर आई थी। लोकप्रतिनिधि लोककवि ईसुरी[16] ने कहा था—"बखरी रइयत हैं भारे की, दई पिया प्यारे की....।" अर्थात् यह शरीर किराये का घर है, जिसका मालिक ईश्वर है। उसकी दीवारें कच्ची माटी की हैं, जिन पर चारा-फूस छाया हुआ है। वह बेबंधेज है और उसी में दस दरवाजे (इन्द्रियाँ) हैं जिनमें किवाड़ और ताले कुछ नहीं हैं। चाहे ईश्वर (मकान-मालिक) कभी निकाल दे, उसकी परवाह इसलिए नहीं कि वह किसी मतलब की नहीं है। शरीर का यह रूपक लोकचर्चित हो गया है। इसी प्रकार तन की क्षणभंगुरता (तन कौ कौन भरोसो करने, आखिर इक दिन मरनै), संसार की नश्वरता (जौ संसार ओस कौ बूंदा, पवन लगे सें ढरनै) और माया की भास्वरता (जे सब माया के चक्कर हैं, बिरथा फिरत भुलाने) से यह जीव रूपी हंस विथकित होकर इस देस को छोड़ (इहाँ बकन के थाने-बगुलाओं द्वारा रक्षा) अपने देस (समुद भरे हैं अगम उतै चल सुक पावें मनमाने) जा रहा है। जगत से पलायन का यह भाव इस काल में प्रधान नहीं था, वरन् लोककवि ने मानव जीवन को सबसे कीमती माना था—"चोला ओर दूसरी नइयाँ, मानस की सानी कौ। जोगी-जती, तप-सन्यासी, का राजा-रानी कौ।" इस नर देह में सभी कुछ है—

तन के सुभ लच्छन सब जाके, दया करन हैं ताके।
जनबाई जड़, पेड़ धीरता, साखा सीलन छाके।
अर्थ-धरम और काम-मोक्ष फल, पुन्न पुरातन पाके।
पतिव्रता के धर्म-कर्म में, उनजस होत उमा के।
होत चीकने पात 'ईसुरी' होनहार बिरवा के॥

देह की वृक्ष में ही चतुराई की जड़, धैर्य का तना, शील की शाखाएँ तथा अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष के फल होते हैं। इसीलिए मनुष्य योनि बड़े भाग से मिलती है (मानुस बड़े भाग सें होबै....), लेकिन मनुष्य कर्म से महान बनता है (मानुस बड़ो होत करनी सें....)। उसे इस संसार में संभलकर चलना पड़ता है। धर्म का मार्ग अपनाना, ब्रह्म का स्मरण करना और परस्वार्थ के लिए जरूरी है (चलबू करे धरम कौ मारग रामैं नईं बिसारौ, जौ तन परस्वारथ के लानें, जो कोऊ जोग-जुगत कर जानें चढ़-चढ़ जात बिमानें)। ब्रह्म जल-थल, अग-जग समेत सबका ध्यान रखता है और उसी पर धरती-आसमान सबका भार है। वे सभी की रक्षा करते हैं और नृसिंह का स्वरूप धारण कर हिरणकश्यप जैसे असुर का संहार करते हैं (जीके रामचन्द्र रखवारे, को कर सकत दगा रे। धर नरसिंग रूप कड़ आये, हिरणाकुस खों मारे॥)। इस प्रकार ईसुरी के लोकदर्शन में लोकहित और लोकरक्षा का उद्देश्य भी प्रमुख है। पुनरुत्थान-काल के साहित्य में भले ही मानवतावाद की प्रधानता रही हो, पर लोक-साहित्य में मानवतावाद के साथ लोकरक्षा की दृष्टि ही सर्वोपरि रही है। फिर भी व्यक्ति इतना दबा हुआ था (सिर पै बात जबर की) कि उसका लोक-मन उतना स्वतंत्र नहीं हो पाता था।

देश की आजादी की लड़ाई के समय लोकचिन्तन में ब्रह्म का शक्तिमय रूप उभरा था, जिससे लोकमन ने प्रेरणा ली थी और वह जूझने के लिए तैयार हुआ था। असल में लोककाव्य का अध्ययन बहुत सावधानी से करना चाहिए, प्रसिद्ध लोककवि खूबचन्द (राठ, हमीरपुर) की कुछ पंक्तियाँ देखें—

कामादिक खल मार कें, मोह फाँस कर अन्त।
जग की केतिक बात है, कालहू डरत न सन्त॥
जग में संत सिपाही लरते, बरबस जाय उभरते।
वस्तु-विचार कृपान बाँध कटि, काम-सीस पर धरते।
बख्तर छमा अभेद पहर तन, क्रोध पकर पहरते।
सर-संतोष लोभ-उर मारत, इनसे नेक न डरते।
'खूबचन्द' हन मोह विकट भट, राज अकंटक करते॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उक्त पंक्तियों में संत का सिपाही काम-क्रोध-लोभ-मोह को पराजित करता है और अकंटक राज करने की भावना से भरा रहता है। उसे इस मायावी संसार से क्या, काल (समय या मौत) तक से डर नहीं है। क्या इन दार्शनिक पंक्तियों से एक निडर योद्धा की तस्वीर नहीं उभरती, जो दुश्मनों को हराकर स्वराज्य पाना चाहता है? यदि यह सब है, तो यह कहने में संकोच नहीं है कि लोकदर्शन ने की आजादी लड़ाई को सम्बल दिया था और अपनी लोकधर्मिता को प्रमाणित किया था।

आधुनिक काल में लोकदर्शन संक्रमण की स्थिति में है। लोक की आस्थाएँ और मान्यताएँ बदल रहीं हैं। बौद्धिकता और भौतिकता के प्रति अतिरिक्त लगाव के कारण ब्रह्म-जीव, जीव-जगत, जीव-माया आदि के पूर्वस्थिर सम्बन्ध काफी ढीले पड़े हैं। जगत से जीव का वैराग्य और मोक्ष पाने का उत्साह अब उतना प्रभावी नहीं रहा। ब्रह्म और जीव या परमात्मा और आत्मा सम्बन्धी चिन्तन बहुत कम हो गया है। मनोविज्ञान के विविध क्षेत्रों में शोध के कारण प्रश्नों की कतारें खड़ी हो गई हैं। जागतिक सुख-सुविधाओं के अभाव के परिणामस्वरूप लोक में उनके प्रति चिन्ता बढ़ी है, जिससे लोकमन वैराग्य की भावना को बिल्कुल भूल गया है। मनुष्य व्यक्तिधर्मी होने के कारण लोकधर्मी चिन्तन को त्याग रहा है और वैयक्तिक स्तर पर उभरते लोकदर्शन में एक खतरनाक स्थिति यह है कि चिन्तन की गम्भीरता ही नहीं है। गाँव के लोग आज भी पुराने लोकदर्शन का अनुसरण रूढ़ि की तरह करते हैं, लेकिन नगर की लोकचेतना में विखंडता और बिखराव ज्यादा है। फिर भी यह निश्चित है कि गाँव और नगर का लोक लोकदर्शन की रूढ़ियाँ तोड़कर स्वतंत्र दिशा खोजने के पक्ष में है।

संदर्भ संकेत :

1. महाभारत, उद्योग पर्व, 62/24-25।
2. अन्धकारयुगीन भारत, काशीप्रसाद जायसवाल, अनु. रामचंद्र वर्मा, सं. 1995, पृ. 133, 205।
3. तारीख-ए-फरिश्ता, भाग 1, ब्रिग्स, पृ. 46।
4. मेरा लेख–"दरस की तो वेरा भई"......धर्मयुग, 4 जनवरी, 1987।
5. मालवी लोकसाहित्य : एक अध्ययन, डॉ. श्याम परमार, 1969 ई., पृ. 227 एवं संगीत : एक लोकनाट्य परम्परा, रामनारायण अग्रवाल, 1976 ई., पृ 31 तथा ख्याल-लावनी समारोह-स्मारिका, संपा. डॉ. शरद नागर, 1984 ई., पृ. 33 पर कृष्णगोपाल दुबे का लेख।
6. मानसिंह और मानकुतूहल, हरिहरनिवास द्विवेदी, सं. 2010, पृ. 58।
7. वही, पृ. 103।
8. महाभारत, विष्णुदास, विराट पर्व, तृतीय अध्याय, छंद 7-8।
9 छिताई कथा, नारायणदास, छंद 210, 488, 726 एवं मेरा लेख–"नित नव रंग अखारे होई....., साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 18 जनवरी, 1681 तथा "ओरछा का अखाड़ा जिसने रीतिकाव्य को जन्म दिया", साप्ता. हिन्दुस्तान, 17 मार्च, 1985।
10 विष्णुदास कृत "रामायनी कथा" एवं "महाभारत" में कवि का परिचय, ग्वालियर की सिद्ध-पीठ और खड्गराय कृत 'गोपाचल आख्यान' में उल्लिखित नाथपंथियों की परम्परा।
11. लोकरंग, सम्पा. डॉ. महेन्द्र भानावत, 1971 ई., पृ. 100।
12. वही, पृ. 106।
13. वही, पृ. 192।
14. मानसिंह और मानकुतूहल की भूमिका एवं राग-दर्पण।
15. चौमासा, वर्ष 3/अंक 7 में वसंत निरगुणे का लेख–"कलगी-तुर्रा", पृ. 3-4।
16. लोककवि ईसुरी और उनका साहित्य, सम्पा. डॉ. नर्मदाप्रसाद गुप्त, 1948 ई., बुन्देलखण्ड साहित्य अकादमी, छतरपुर, म.प्र.।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मेवात की लोकसंस्कृति

डॉ. जीवन सिंह

दिल्ली के समीप वर्तमान हरियाणा के गुड़गांव और फरीदाबाद राजस्थान के भरतपुर-अलवर और उत्तरप्रदेश के मथुरा जिलों के कुछ हिस्सों की जनता से मिलकर बनता है मेवात। मेवात भले ही कोई प्रशासनिक इकाई न रहा हो, लेकिन यहां की जनता ने—खासकर मेव जनगण ने—अपने श्रम और एक दूसरे के सुख-दुख में काम आने की भावना से, पिछली कई शताब्दियों में अपने कर्म, आचरण, आचार-व्यवहार, मेले-ठेले, तीज-त्यौहार, खेलकूद, राग-रंग, रचना-निर्माण, बातों-गीतों की वाचिक अभिव्यंजना, दोहों-रतवाइयों की कहन के माध्यम से अपने सम्पूर्ण जनसमुदाय की एक जीवन-पद्धति की रचना की, जिसे मेवात की लोकसंस्कृति के रूप में देखा जाता है। इस इलाके की संस्कार-रचना में सदियों से मेव जाति की प्रधानता रही है, यद्यपि दूसरी जातियों का योग भी रहा है, तथापि प्रमुखता के आधार पर इसे मेवात की लोकसंस्कृति कहना ही उपयुक्त होगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि मेवात की लोकसंस्कृति किसी एक धर्म-संस्कृति की वाहक न होकर सही अर्थों में लोक की संस्कृति है। इस इलाके में जहां एक ओर इस्लाम के अनुयायी मेवों की बहुलता रही है, वहीं दूसरी ओर उनका और हिन्दू मतावलम्बियों का साहचर्य सदियों से रहा है। दूसरी बात यह है कि मेवों के जीवन की धार्मिकता अत्यन्त सहज और निश्छल रूप में रही है, उसमें अनुष्ठानिक कर्मकाण्ड और पाखण्ड का स्थान कभी नहीं रहा। इसीलिए "जाट की कहा हिन्दू और मेव की कहा मुसलमान" जैसी कहावतें बनीं। हमारी मान्यता तो यह है कि जब कोई जाति श्रम से पृथक होकर केवल शासन और चिन्तन का काम करने लगती है, तो वह धर्म के आनुष्ठानिक रूप को अपनी पाप–भवना से मुक्ति और प्रलोभन की दृष्टि से, ज्यादा से ज्यादा ग्रहण करने लगती है, इसके विपरीत श्रम और सक्रियता से जो वर्ग-जातियाँ अपनी आजीविका जुटाती हैं, उन्हें न तो कभी इतनी फ़ुरसत मिलती है कि वे अतिरिक्त पूंजी से बड़े-बड़े धार्मिक अनुष्ठानों और कर्मकाण्डों को सम्पन्न कर सकें और न ही श्रम से आजीविका पैदा करने की वजह से उनमें किसी तरह की पाप-भावना जन्म लेती है। यही कारण है कि हमारे देश में जितनी भी जनजातियां, जातियां और उपजातियां श्रम से जुड़ी रहीं, उनमें धर्म का ऊपरी आवरण कम से कम रहा। हिन्दुओं में जाट, गूजर, अहीर, माली आदि और मुसलमानों में मेव सभी इसके प्रमाण हैं। कहना न होगा कि इनमें भी वर्तमान में तो लोग श्रमशील वर्ग से छलांग लगाकर मध्यवर्ग या उच्च मध्यवर्ग में आ गये हैं, उनमें धीरे-धीरे धर्म का बाह्य संस्कार प्रधानता प्राप्त करता चला जा रहा है। ऐसा परिवर्तन मेवों में भी देखा जा सकता है। इसके अलावा आजादी के बाद हमारे देश की पूंजीवादी लोकतांत्रिक राजनीति ने चुनाव क्षेत्रों की जाति–बहुसंख्यकता या सम्प्रदाय बहुसंख्यकता को जिस तरह दबाव-समूहों में बदला है और एक सही राष्ट्रीय एवं मानवीय परिप्रेक्ष्य को नजरअंदाज किया है तथा दूसरे महायुद्ध के बाद अमरीकी साम्राज्यवाद ने जिस तरह विकासशील देशों में अलगाववादी राजनीति को प्रोत्साहित किया है, उस सबका परिणाम यह हुआ कि विभिन्न धर्म-समूहों वाले हमारे जैसे देशों में धर्मान्धता, धार्मिक संकीर्णता, पुनरुत्थानवाद जैसी प्रवृत्तियों को खूब बल मिला है। इसका असर मेवात में भी देखने को मिल रहा है। धर्म का जो कर्मकाण्डीय रूप मेवों में कभी दिखाई नहीं दिया, वह ऐसे वातावरण में उनमें भी देखने को मिले तो कोई अस्वाभाविक बात नहीं है।

इस सबके बावजूद, मेवात में पूरे देश की तरह शताब्दियों से लोगों की आजीविका का एकमात्र साधन कृषि तथा पशु पालन रहा है। इस इलाके की सामान्य जनता-मेव हो या हिन्दू-जातियाँ—की सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियां लगभग एक जैसी रही हैं। इन समान परिस्थियों ने इस इलाके की समस्त जातियों में पारस्परिकता की भावना पैदा किया, जिसके फलस्वरूप मनुष्य-समूहों की रचनाशीलता के सन्दर्भ में उसकी संस्कृति का निर्माण एवं विकास हुआ। चूंकि मेवात की जनता की जीविका का मुख्य स्रोत खेती और पशुपालन ही रहा, इसलिए यहां संस्कृति के 'लोक' (कृषि से सम्बद्ध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रमशील जनता) स्वरूप की प्रमुखता ही आज तक बनी रही है। लोकसंस्कृति का यह भवन किसी एक युग या शताब्दी में न बनकर न जाने विकास की कितनी मंजिलें पार करता हुआ, आज की स्थिति में पहुँचा है। मनुष्य की सामूहिक श्रम-भावना और जीवन-संघर्ष ने उसके भीतर ऐसी बातें सृजित कीं, जिनसे वह परम्परा से प्राप्त लोककल्याण से जुड़े मूल्यों को कायम रख सकें और नवीन परि-स्थितियों के अनुसार उनमें तब्दीली करता हुआ नया भी जोड़ सके। संस्कृति की यह एक प्रक्रिया है, जो मेवात की लोकसंस्कृति में साफ-साफ दिखाई देती है।

लोकसंस्कृति, एक मायने में आदिकालीन मानव संस्कृति का वह अगला पड़ाव है, जिसमें मानव को अपनी रचना करने का अवकाश मिलते रहने की स्थितियां बन जाती हैं। वैसे संस्कृति की रचना का एक आदिम रूप, उसकी पारस्परिकता और सामुदायिकता है, जिसे मानव ने अनेक रूपों में स्थायित्व प्रदान करने का प्रयत्न किया है। मेवात की लोकसंस्कृति इस नियम का अपवाद नहीं है। पशुचारण की अवस्था से आगे बढ़कर जब मनुष्य ने खेती करना आरम्भ किया, तो उसे रोज-रोज की भ्रमणशीलता से मुक्ति मिली, और एक ही जैसा जीवन जीने वाले लोग एक ही भू-क्षेत्र में एक ही तरह का आर्थिक जीवन जीते हुए एक बोली या भाषा का विकास करते और समय-विकास के क्रम में उस भाषा-या बोली के माध्यम से न केवल अपने जीवन-व्यवहार को गति देते वरन् उसमें अपने अनुभवों, भावनाओं और विचारों को भी उंड़ेलते रहे। इस सबसे मिलकर बनी लोक की एक संस्कृति।

कहने की आवश्यकता नहीं कि मेवात की संस्कृति इस रूप में पूरे देश की लोकसंस्कृतियों की माला का ही एक मोती है, जिसमें मोती की निर्माणगत समानता होते हुए भी अपना रंग-रूप है, अपनी चमक है, अपनी-आकृति है और अपना वैशिष्ट्य है। हमारे लोक का स्वभाव वाचिक स्वभाव है, जो जीवन की सहजता और मध्य-कालीन जीवन-परिस्थितियों की उपज है, जब मनुष्य के पास वाचिक रूप को लिखित और स्थायी रूप देने के न तो उतने बड़े साधन ही थे और न ही यह चेतना, कि दरबारी सभ्यता और संस्कृति की तुलना में लोकसंस्कृति उन्नीस न होकर इक्कीस है। यह संयोग मात्र नहीं है कि लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं के उदय से लोकसंस्कृति के महत्व को समझा गया है। लोकसंस्कृति के विकास, संवर्द्धन और संरक्षण के लिए सच्चे और वास्तविक अर्थों में लोकतंत्र को स्थापित और विकसित करने की आवश्यकता है। यहां पर यह उल्लेख करना गलत नहीं होगा कि दुनिया के जिन देशों में वैज्ञानिक समाजवादी लोकतंत्र का विकास हुआ है, वहां लोकसंस्कृति की सुरक्षा और विकास की परम्परा अलग ही तरीके से की गई है।

बहरहाल, किसी भी संस्कृति का पहला रूप है-सम्बद्ध मानव-समुदाय के पारस्परिक आचरण और व्यवहार का। यह संस्कृति का एक ऐसा रूप है, जिसे सम्बद्ध लोक के बीच रहकर ही जाना जा सकता है। मेवात की मेव जनता को इस रूप में देखें तो पायेंगे कि इस जाति ने जो कुछ अर्जित किया है, उसके पीछे उसकी सक्रियता और संघर्षोन्मुखता प्रमुख रही है। खेती और पशुपालन की अवस्था में आदमी का प्रमुख संघर्ष प्रकृति के साथ रहा है, इसी संघर्ष में उसने बहुत कुछ रचा है। भाषा का स्वरूप भी इसी में से बना है, इस वजह से इनकी बोली में इसका असर मिलना स्वाभाविक है। एक उदाहरण दूं--एक बार मैं छुट्टियों में अपने गांव-जुरहरा (भरतपुर) गया था। गांव में खेती में बटाई और साझेदारी में मेवों का और हमारा साहचर्य लम्बे अरसे से रहता चला आया है। हमारे एक साझी ने स्वाभाविक तौर पर मेरे हालचाल पूछते हुए पहला ही प्रश्न किया कि "अरा वाड़ी ! कहां खग रौ ए आजकल।" (भाई आजकल कहां संघर्षरत है)। हमारे साझे की बोली में 'खगना' क्रिया का प्रयोग देखकर इस जाति की जीवन-पद्धति का एक बड़ा सूत्र मुझे मिला। मुझे मन ही मन प्रसन्नता हुई कि इस अपोथी पंडित ने जीवन को कितने नजदीक से पकड़ रखा। यही है लोक की प्रकृति, जहाँ व्यवहार व सिद्धांत-एकरूप होते हैं।

संघर्ष के प्रतीक-के रूप में मेव के हाथ में लाठी अब तक रही है। पिछले दस-बीस वर्षों में उनके भीतर बदलाव आया है। जैसे-जैसे आजीविका के साधन सहज होते जा रहे हैं, वैसे-वैसे पुरानी बातें खत्म होती जा रही हैं। मेवों के हाथों में लाठियां देखकर मुझे गिरधर की--'लाठी में गुन बहुत हैं सदा राखिए संग'--कुण्डली हमेशा याद आती रही है। इसी तरह कुश्ती लड़ने और लड़ाने का शौक मेवात की लोकसंस्कृति की संघर्षोन्मुखता का ही उदाहरण है। आज से पच्चीस-तीस वर्ष पहले तक जब यातायात के आधुनिक साधनों का आज जितना विकास नहीं हुआ था, तब व्याह-बरातों में नौसा-नौसी (दूल्हा-दुल्हन) के लिए मुख्य वाहन रथ (बैलरथ) ही हुआ करता था। रथों और बैलों की सजावट और दौड़-प्रतियोगिता में मेवात की जनता का अपना वैशिष्ट्य अलग दिखाई देता था। यहाँ पर देखने की बात यह है कि ये सारी बातें एक दूसरे को एक दूसरे के दुख-सुख में जोड़ने वाली थी, इनसे सामूहिकता की सृष्टि होती थी और भाईचारे की। इन सारे जीवन-व्यवहारों में न हिन्दू की बाधा थी, न मुसलमान की। एक बात और, जो मेवों की विशिष्टता थी--वह थी समानता। जिसे इस्लाम ने खूब प्रोत्साहित किया। कबीलाई जीवन से उत्पन्न समानता को इस्लाम ने धार्मिक सिद्धांत के रूप में स्थापित किया, इसी का परिणाम था, कि इस्लाम को दुनियाभर में व्यापक स्वीकृति मिली। लम्बे समय तक उत्पादन के साधनों की एकरूपता और इस्लाम के असर ने मेवों में सामाजिक समानता को बरकरार रखा। इसके अलावा परम्परा के रूप में मेवों के जो संस्कार बन गए थे, उन कारकों को भी बनाए रखा। मसलन-कबीलाई जीवन जैसी उन्मुक्तता और सहकारिता का भाव मेव-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दम्पति और कुटुम्बों में आज तक विद्यमान है । मेवनियों के जीवन में वैसी ही उन्मुक्तता और जीविका-अर्जन में मर्द के कंधे से कंधा मिलाकर चलने की पद्धति मिलती हैं, जो सामान्यत: तत्कालीन शासक वर्ग में नहीं थी । मेवनियों ने अपनी वेशभूषा को इस्लाम के प्रभाव से नहीं बदला—खूसनी, कमीज और लूगड़ी मेवनी की मुख्य वेशभूषा रही—बुरके को उसने कभी स्वीकार नहीं किया । इसी तरह आजीविका के साधनों में साथ रहने वाले हिन्दुओं के अनेक प्रभाव भी ग्रहण किए । और इस भाव को अपने मन में पैदा नहीं होने दिया कि हिन्दुओं और इस्लाम के अनुयायियों की दृष्टि से मानवता में भी कोई फर्क है । मानवता के बिन्दु पर बहुत कम अंतर रहा । इसी का परिणाम था कि अमावस्या के दिन बैलों के कंधों पर जब हिन्दुओं ने जुआ नहीं रखा तो मेवों ने भी इसे अपने जीवन की रीति बना ली । होली, दशहरा, दीवाली आदि के प्रति न केवल सम्मान-भाव रहा बल्कि इनमें मेवों की रुचि भी रही । इसके अलावा विवाह सम्बन्ध में गोत्र बचाने की परम्परा भी मेवों में रही है । इतिहास ने भी हिन्दुओं और मेवों की पारस्परिकता को बल प्रदान किया है । बाबर के समय तक, खानवां के युद्ध में राणा सांगा और हसन खां मेवाती ने एक साथ मिलकर बाबर से युद्ध किया । सैयद, चोखापीर और फकीरों के प्रति मेवात की सभी जातियों में सम्मान रहा ।

पिछली डेढ़ शताब्दी से हमारे गाँव जुरहरा में रामलीला होती है, जिसमें आज तक भी मेव और मेवनी नि:संकोच दर्शक के रूप में सम्मिलित होते हैं । आजादी से पहले तक रामलीला के बाद होने वाले नाटकों में हमारे गाँव के मेव न केवल बाहरी सहयोग करते थे, बल्कि नाटकों में भूमिका भी करते थे । देश-विभाजन और आजादी के बाद की पूंजीवादी राजनीति और उससे पैदा होने वाली विभक्त-मानसिकता ने इन एकता के सूत्रों को कुछ कमजोर जरूर किया है किन्तु इसके होते हुए भी दशहरा और ताजियों में एक दूसरे के प्रति विश्वास का भाव बना हुआ है । दशहरा के दिन रावण-वध के मेले को देखकर आज कोई भी कह सकता है कि यह मेवों का ही मेला है । कहना न होगा कि मेवात में निवास करने वाली श्रमशील जनता ने इसी आचरण और क्रिया-व्यवहार के चलते अपनी संस्कृति की रचना की है ।

संस्कृति की सर्वाधिक मूर्तता उसके कला रूपों में होती है । ये कला रूप लोकसंगीत, लोकनाटय, लोकनृत्य, लोकगीत, लोकगाथा आदि के विभिन्न विधाओं में विद्वानों के विवेचन का विषय बनते रहे हैं । इस दृष्टि से मेवात की संस्कृति को देखें तो इस इलाके में वाचिक साहित्य के रूप में मेवनियों द्वारा गाए जाने वाले लोकगीतों के अलावा मुक्तक और बातों (गाथा) के रूप में दूहा साहित्य खूब मिलता है । दूहों के अलावा बारहमासी, तारीफ, जस आदि इस साहित्य के उल्लेखनीय काव्य हैं । बात और दूहा काव्यरूपों में मेवात की लोकसंस्कृति की रचना प्रमुखता से हुई है । इसके साथ, इस जाति की कलाकार-जाति 'मीरासी'-पारम्परिक व्यवसाय के रूप में मेवाती लोकरचना और संगीत की श्रीवृद्धि आधुनिक युग के सन्दर्भों में भी करते रहे हैं । यहाँ पर मैं कुछ उदाहरणों से मेवात की लोक-संस्कृति की एक आकृति बनाने का प्रयास करूंगा ।

सौन्दर्य और सत्य ने मनुष्य-जीवन में जितना आकर्षण और संस्कार पैदा किया है, उतना शायद ही अन्य किसी बात ने किया हो । सौन्दर्य को, वर्ग-विभाजन के बाद कुलीन वर्ग ने अपने हितों के सन्दर्भ में निरूपित किया, किन्तु 'लोक' ने उसे हमेशा से सत्य की कसौटी पर कसा है, यह अलग बात है कि मनुष्य की ऐतिहासिक स्थिति में उसे समग्रता में नहीं समझा जा सका हो । जीवन की सच्चाई और सौन्दर्य लोक के भीतर इतनी सहजता से अन्तर्ग्रंथित रहते चले आए हैं कि उनका विषय-विभाजन करना मुश्किल हो जाता है । लोकजीवन की सचाई का पहला रूप उनके प्रकृति-संबंधों में मिलता है । प्रकृति और लोक के सम्बन्ध जीवन-सम्बन्ध ही हैं, वे जीवन की बहुत बड़ी सचाई हैं, अतः इस आधार पर जिस सौन्दर्य की रचना लोक करता है, वह जीवन-यथार्थ से अलग नहीं होता । इस सम्बन्ध को इन दोहों में देखा जा सकता है :

रावण आयौ सायबा, पामन लिपटी गार ।
खिरकन लिपटी बेलड़ी, पुरखन लिपटी नार ॥
सब तन उजली क्वार में (जैसे) सिकल करायौ सेल ।
लिपटी रहूँ शरीर के (पी के) जैसे नागर बेल ॥

देखने की बात यह है कि इन दोहों की रचना में जीवन की सचाई को न केवल प्रकृति के व्यापक परिप्रेक्ष्य में रचा गया है बल्कि इनका मानवीय परिप्रेक्ष्य भी मात्र मेव जाति की अपनी धार्मिक परम्पराओं तक सीमित नहीं है । सावन और क्वार के सन्दर्भ पूर्णतः सांस्कृतिक हैं, जो वृक्षों और लताओं के प्राकृतिक सन्दर्भों से सम्पन्न होकर दाम्पत्य की सहज सत्यता को व्यक्त करते हैं । कहना न होगा कि यदि इनके बीच से जीवन-यथार्थ को निकाल दिया जाय तो सारी सौन्दर्य-रचना दो-कौड़ी की रह जायेगी । वस्तुतः, लोकसंस्कृति में सामान्य मनुष्यत्व की भावना का विधान ही उसे महत्वपूर्ण बनाता है ।

दूसरी बात यह है, कि लोकसंस्कृति की रचना लोक के ठेठ अनुभव संसार में होती है, इसलिए जीवन का वस्तुगत परिप्रेक्ष्य जहाँ एक ओर, सचाई को उजागर करता है, वहीं दूसरी ओर वह आल्हादकारी भी होता है । अनुभवों से बनी सीधे-सीधे जुड़ी लोक की रचना में जीवन के वे पक्ष भी होते हैं, जिनमें आलोचना जरूरी होती है । इस प्रक्रिया में बुराई से संघर्ष और अच्छाई की पक्षधरता—यह भी लोक का वैशिष्ट्य बन जाता है । वीरता और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साहस की जितनी भी यशगाथाएँ बातों के रूप में मेवात में प्रचलित हैं, उनमें एक ओर बुराई से संघर्ष है तो अच्छाई की पक्षधरता भी है। इनमें वीरता और उत्साह केवल वीरता प्रदर्शन के लिए न होकर लोक-हित के सन्दर्भ में व्यक्त हुई है। इनमें मनुष्य और पूरी जाति के आत्मगौरव की रक्षा के लिए उन विपक्षियों से संघर्ष की खुली अभिव्यक्ति और चुनौती दिखाई गई है, अपने हित के लिए दूसरों को गुलाम बनाकर रखने की भावना से–परिचालित हैं। इसी भावना को कई रूपों में, मेवात में प्रचलित दोहे व्यक्त करते रहे हैं। जैसे :

दिल्ली पै धावा दिया, अपणा पण के पाण।
डरपा मेवन सूं सदा खिलजी, मुगल, पठाण ॥

मेवात की धरा के धींगपने का बखान खूब किया गया है लेकिन उसका सन्दर्भ आत्मगौरव की भावना ही है किसी अन्य जाति पर अधिकार करने, राज करने की अभिलाषा नहीं। लोक के जीवन-यथार्थ का एक रूप दाम्पत्य-सम्बन्धों तक में मिलता है। इस यथार्थ का पता अनेक पढ़े-लिखे कहे और समझे जाने वालों तक को नहीं होता कि हमारे सम्बन्धों की पृष्ठभूमि और आधार के रूप में उत्पादन सम्बन्ध होते हैं। मेवात में प्रचलित गीतों का अध्ययन करते हुए जब मैं एक ऐसे गीत के सम्पर्क में आया, जिसमें प्रेयसी अपने प्रियतम से-सम्बन्ध तोड़ने की बात कहती है और सम्बन्ध-विच्छेद के पीछे जिस तर्क को देती है, तो उसे सुनकर मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। यहां उस गीत को प्रस्तुत कर रहा हूँ :

उतरगो ढोला मेरा मन सूँ
जैसे बागन सू उतरगो अमरूद ॥
लीलो पग्गड़ बांध कै बणो फिरा सा छैल।
मेरा मन सू उतरगो जैसे पींडी पै को मैल ॥

यहाँ विशुद्ध कला-प्रेमी कहेंगे कि "बागन सू उतरगो अमरूद" और "पींडी पै को मैल" में अप्रस्तुत योजना का मौलिक विधान किया गया है। यह मेवात की कला का अपना वैशिष्ट्य और जीवन-यथार्थ से उपजा शिल्प है लेकिन क्या इसकी सुन्दरता का कारण बस यही है ? क्या यह नहीं कि प्रियतमा-पत्नी ऐसे व्यक्ति से अपना सम्बन्ध नहीं रखना चाहती, जो नाकारा और निकम्मा है। बिना काम किए, बिना मेहनत किए नीले रंग का पगड़ बांधकर छैले का जीवन अर्थात् सुविधा का जीवन व्यतीत करना चाहता है। निरन्तर श्रम में लगे रहने वाले वर्ग को यदि निकम्मा सुविधाजीवी वर्ग पसंद न आए, तो कुछ भी अस्वाभाविक नहीं। यह जीवन का एक ऐसा मूल्य है, जो शेष सृष्टि के साथ अपने सम्बन्ध-आधार को व्यक्त करता है। जो नारी अपने पति की निष्क्रियता के बावजूद सुविधा का जीवन पसंद नहीं करती, वह पूरे के पूरे वर्ग के रूप में उसके अस्तित्व को कैसे स्वीकार करेगी।

लोक-जीवन में सचाई पर आधारित सौंदर्य की रचना के अलावा साधारणता में असाधारण सौंदर्य और सामूहिकता की भावना को अभिव्यक्ति मिली है। सामूहिकता से साधारणता का निकटता का सम्बन्ध है। अहंकारगत वैशिट्य के पैदा होते ही व्यक्तिवाद की प्राचीरें खड़ी होने लगती हैं। लोकजीवन में चूंकि कृषि-सँबंध प्रमुख रहे हैं, इसलिए सामूहिकता को उस जीवन में सर्वत्र प्रमुखता प्राप्त होती रही है। इन्हीं बातों को मेवाती दोहों में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है :–

कौण काई कै आय है, दाणों–पाणी लाय।
भाई भेला होंय तो, करणी में रस आय ॥
इकलो दौंड़ा होय, दसन कू कैसे लूटै।
इकलो तोब जु होय, किलो वासू कैसे टूटै ॥
चणो एकलो होय, भाड़ वासू कैसे फूटै।
एक भजन सू दिल को फाटक कैसे खूटै ॥
इकलो बैठे गाण लू, नाय बणै है गीत।
इकला तो वे ही भला जो जंगल तपै अतीत ॥

मेवाती-गीतों और दोहों में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि जीवन में बाहरी सौंदर्य की तुलना में आन्तरिक सौंदर्य ज्यादा जरूरी है। देखा जाय तो आज की परिस्थितियों में हम स्पष्ट देखते हैं कि जहां-जहां पूँजीवादी जीवन-पद्धतियों को स्वीकृत किया गया है, वहां-वहां सभ्यता का विकास तो हुआ है किन्तु संस्कृति का नहीं। मेवात के जनगण ने इसी आन्तरिक सौंदर्य और संस्कृति को इस प्रकार व्यक्त किया है :—

गोरी गोरी सब कहै, काली कहै न कोय,
गोरी सू काली भली, कुल कालै मत होय।

नारी और नर दोनों से मिलकर एक सृष्टि चलती है। इसमें पुरुष वर्ग की प्रधानता रही है, इसलिए नारी के प्रति मेवात की लोकसंस्कृति में पूरा सम्मान का भाव मिलता है:—

औरत सू दुनिया चली, औरत जात भली।
या तिरिया की कोख में, पैदा हुए बली ॥
बेटा सू बेटी भली, जै कुलवन्ती होय।
बेटा तारै एक कुल, बेटी तारै दोय ॥

इस साहित्य की रचना करने में मेवात की मीरासी-जाति का बड़ा योगदान है। आधुनिक युग में, स्वतंत्र-भारत में जो परिवर्तन आए हैं, उन्होंने यहां की संस्कृति को भी प्रभावित किया है, जीवन में अनेक अन्तर्विरोधों ने जन्म लिया है। मीरासियों ने उन अन्त-विरोधों को पकड़कर भी अनेक गीत रचनाएँ की हैं। मसलन–पंचायती राज और उससे पैदा हुए भ्रष्टाचार के वातावरण में गांवों में दलालों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का एक अलग ही वर्ग बन गया है। जिसकी अभिव्यक्ति इस गीत में देखिए :--

सरपंची मेरा राजा लू मिली है मेरी माई।
पहलै जोता यानै गाड़ी–पड्डा
अब पहरन लगो कुरम का गुड्डा
यानै बैठन कू फटफट गंगवाई....सरपंची....
पहलै तो ही याकै कच्ची गैड़ी
अब बनवाया यानै कमरा–कचैड़ी
यानै तिखनी तौ हवेली खिनवाई....सरपंची...

लोक की मानसिकता में संस्कृति-रचना और जीवन-मूल्यों के रूप में ईश्वर की अवतारणा का कम महत्व नहीं है। जब मनुष्य को अपने सम्बन्धों में अन्तर्विरोध नजर आने लगे तो उनके समाधान के लिए उसने ईश्वर और अध्यात्म की अवतारणा की। यह अलग बात है कि उनकी उस अवतारणा और उद्भावना से आज तक अन्त-विरोधों का समाधान नहीं हो पाया है। इसके विपरीत उनमें बढ़ोतरी ही ज्यादा हुई है और यह तथाकथित अध्यात्म जनता को ठगने और बहकाने का एक व्यवसाय बन गया है।

मेवाती जनता ने ईश्वर और अध्यात्म का उपयोग बुरे लोगों को सजग करने की दृष्टि से किया है। जैसेः---

अपणौ अन्त पिछाण ले, धर ले रब सू हेत।
गुनां माफ हो जायंगा, जैसे गैंज सुधारै खेत।।

कहना न होगा कि आगे चलकर ईश्वर-पूजा और स्तुति एक ऐसे कर्मकाण्ड में बदल गया, जिसमें आदमी के बदलने की बजाय गुनाह माफ करने का विचार ही प्रबल होता चला गया, और हमारे मंदिर-मस्जिद गुनाह माफ कराने के साधन बन गए। इतना ही नहीं, हमारे लोककवि ने इस अन्तर्विरोध को भी व्यक्त करने में कोई कोताही नहीं की। उसने जीवन की इस सचाई को इस प्रकार व्यक्त कियाः---

रण्डी तौ रथ में चलै, संत पयादा जांय।
कहीं कहीं गोविन्द तैंने बात पिछाणी नांय।।

कहने का तात्पर्य यह है कि हमारी संस्कृति-रचना में मेवात की लोकसंस्कृति का उल्लेखनीय योगदान रहा है। यह अफसोस की बात है कि आज इस इलाके के अपने सपूत पढ़-लिखकर ऊँचे-ऊँचे पदों पर आसीन हो गए हैं, तब भी इसका अपना शब्द, लोकोक्ति, मुहावरा और साहित्य कोश का काम आरम्भ नहीं हुआ है। मेवात का इतिहास, बोली, साहित्य और जीवन-पद्धति के प्रलेखन और विवेचन-विश्लेषण का काम जितनी जल्दी आरम्भ हो, उतना ही हमारे भविष्य की दृष्टि से अच्छा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कुमाऊँ की जनजातियाँ

डॉ. देवसिंह पोखरिया

मानव जीवन की आदिम सभ्यता और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाले आधुनिक दृष्टि से असभ्य और असंस्कृत तथा जंगलों, पहाड़ों और पठारों में निवास करने वाले मानव-समुदाय को आदिवासी कहा जाता है। आधुनिक दृष्टिकोण से अत्यन्त पिछड़े हुए इन मानव-समुदायों के लिए विधिक रूप से "जनजाति" शब्द का प्रयोग होता है। इनके परिवार समूहों के संगठन का एक निश्चित नाम होता है, ये किसी निश्चित भू भाग में रहते हैं। इनकी अपनी विशिष्ट भाषा या बोली होती है तथा ये अपने विशिष्ट सामाजिक विधि-निषेधों का पालन करते हैं।

कुमाऊँ में चार जनजातियाँ निवास करती हैं—राजी, भोटियां, थाड़ू और बोक्सा। राजी और भोटिया पिथौरागढ़ जिले के सीमान्त तथा थाड़ू और बोक्सा नैनीताल जिले के दक्षिणी सीमान्त जिले में बसे हैं। कुमाऊँ में इन चारों जनजातियों को सन् 1967 में संवैधानिक रूप से "अनुसूचित जनजातियाँ" घोषित किया गया है।

हरिजन एवं समाज कल्याणनिदेशालय, उत्तरप्रदेश, के नवीनतम आंकड़ों के अनुसार कुमाऊँ की इन जनजातियों की जनसंख्या इस प्रकार है—

जनजातिजन	संख्या
बनरौत	297
शौका	23556
थाड़ू	38132
बोक्सा	12046
कुल :-	73031

बनरौत

राजी लोग अस्कोट के पास धानधूरा के जंगल में रहते हैं। स्थानीय बोली में इन्हें "बनरौत" कहा जाता है। इन्हें राजकिरातों का वंशज माना जाता है। ये अत्यन्त सादगी पसंद, शांत और कुमाऊँ की अन्य जनजातियों की अपेक्षा सर्वाधिक आत्मनिर्भर हैं। ये जंगलों में रहते हैं। ये आजकल च्यूरानी, कूटा, गणगों, चिफलतर, औंलतड़ी, भोकतिरुवा, मदनपुरी, किमखोला, कन्तोली, खिरद्वारी और नौलड़ी नामक स्थानों में बस्तियाँ बना कर रहने लगे हैं। जनसंख्या की दृष्टि से राजियों के परिवार की संख्या लगभग 38 और कुल संख्या तीन सौ से कम है।

ये छोटे-छोटे परिवार समूहों में रहते हैं। इन परिवारों के सदस्य भुखमरी और कुपोषण के शिकार हैं। राजी स्वयं को अस्कोट के रजवार के बड़े भाई का वंशज बताते हुए कहते हैं कि प्राचीन समय में अस्कोट के राजा के दो भाई हुए। बड़े भाई को जंगलों के प्रति गहरे लगाव के कारण जंगल का राज्य मिला और छोटे भाई को अस्कोट की राजगद्दी मिली।

कालान्तर में बड़े भाई की संतानें "बनरौत" कहलायीं और छोटे भाई की संतानें रजवार। इसलिए आज भी राजी लोग स्वयं को "राजा" कहते हैं और किसी को अभिवादन नहीं करते हैं। अधिकांश विद्वान इन्हें तिब्बती-बर्मी प्रजाति समूह का मानते हैं। कुछ लोग इन्हें खस, मंगोल, प्रजातियों का मिश्रण भी मानते हैं।

राजी जनजाति के लोग कई धड़ों में बँटे हैं। एक धड़े के लोगों के आपस में विवाह संबंध नहीं होते। विवाह में वरपक्ष कन्या-मूल्य चुकाता है। विवाह सादगी से सम्पन्न होता है। इनमें एक विवाह की प्रथा प्रचलित है। मृतकों को गाड़ा जाता है। ये मृतक को गाड़कर उस स्थान को हमेशा के लिए छोड़ देते हैं। मलैनाथ, छुरमल, मल्लिकार्जुन छिपुला, सैम आदि इनके इष्ट देवता हैं। इनमें प्रकृति-पूजा भी प्रचलित है। किसी "थान" में देवता की स्थापना कर उसकी पूजा की जाती है। हिन्दू संस्कृति से प्रभावित होने पर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भी इन्होंने अन्य जनजातियों की अपेक्षा हिन्दू देवी-देवताओं को बहुत कम अपनाया है । चारों ओर से कुमाऊँनी भाषियों से घिरे होने पर भी इनकी अपनी विशिष्ट बोली है । पं. राहुल सांकृत्यायन का मत है कि इनकी भाषा में तिब्बती और किराती भाषा के शब्द तलछट के रूप में विद्यमान हैं ।[1]

राजी लोग आज भी अधिकांशतः अपना भोजन वनों से जुटाते हैं । ये लोग विभिन्न जंगली पशुओं और पक्षियों का शिकार करते हैं । और जंगलों में कंदमूल फल इकट्ठा करते हैं । सेही मारने और तरुड़ खोदने में ये अत्यन्त निपुण होते हैं । आखेट में ये आयुधों के रूप में भाले-वल्लमों और पत्थरों का प्रयोग करते हैं । पशुओं के फँसाने के लिए "जिवाले" भी बनाते हैं । नदी और गाड़ों से मछलियाँ भी मार लाते हैं । जंगली कंद तरुड़ और गेठी इनको अत्यधिक प्रिय हैं । राजी काष्ठ शिल्प के अनन्य शिल्पी हैं । सानन और गेठी की लकड़ी से माने, नाली, पाली, ठेकी, मथानी, चड़ी, बिण्डे, द्वाव्या, हल, जू, आदि लकड़ी के बर्तन बनाने में इनकी बराबरी कोई नहीं कर सकता । इन वस्तुओं के विनिमय का आधार वस्तु-विनिमय है । राजी किसी नियत स्थान पर या घरों के पास अपनी बनाई हुई चीजें अँधेरे में रख रख जाते हैं और उसके बदले स्थानीय लोग इन वस्तुओं के बदले उसी के वजन या माप के अनुसार अन्न या अन्य वस्तुएँ रख देते हैं ।

और वहाँ से उसे राजी उठा लेते है यह अप्रत्यक्ष वस्तु-विनिमय परस्परिक विश्वास एवं ईमानदारी के आधार पर सम्पन्न होता है । अब यह परम्परा समाप्त होती जा रही है । पहले राजी स्थानीय लोगों से दूर भागते थे, पर अब विकास की धार इन तक भी पहुँचने लगी है और ये स्थानीय लोगों के अधिकाधिक सम्पर्क में आने लगे हैं । सरकारी सहायता से इनके बच्चे स्कूलों में पढ़ने लगे हैं और कुछ लोगों ने खेती-बारी और जंगल में चिरान एवं मजदूरी भी शुरू कर दी है, किन्तु यह इनके सामाजिक जीवन का सम्यक् विकास नहीं कहा जा सकता । सारे सरकारी प्रयत्न केवल अफसर-शाही तक ही सीमित रह जाते हैं और अत्यल्प एवं नष्टप्रायः इस आदिम जनजाति को स्वतंत्र भारत में विकास का यत्किंचित् लाभ भी नहीं मिल पाता । विकास ने इनकी आजीविका, कला और सांस्कृतिक धरोहर को अत्यधिक संकट में डाल दिया है ।

शौका

कुमाऊँ के उत्तरी सीमान्त की दूसरी जनजाति 'रं' या 'शौका' है । इन्हें कुछ लोग 'भोटिया' भी कहते हैं, किन्तु स्थानीय बोली में इनके लिए "शौका" शब्द ही प्रचलित है । कुमाऊँ में शौका लोग उत्तरी हिमानियों से लेकर ब्यास, चौदांस, दारमा, जोहार तथा काली और गोरी नदी की उपत्यकाओं और घाटियों में बसे हैं । शौका क्षेत्र सिन्धुतल से 2500" की ऊँचाई से लेकर 22661" की ऊँचाई तक फैला है । पिथौरागढ़ के अतिरिक्त चमोली तथा उत्तर-काशी जिलों के उत्तरी भागों में भी "शौका" लोग रहते हैं । कुटी, नावी, गुंजी, गर्व्यांग, बूंदी, पांगू, हिमखोला, सोसा, सिर्खा, सिर्दांग, सीपू, मार्छा, दुग्तू, ढाकर, स्याला, दांतू, बोलिंग, तीदांग आदि शौकों के प्रमुख गाँव और बस्तियाँ हैं ।[2]

शौका लोग अत्यन्त व्यवसाय-कुशल, परिश्रमी और स्वस्थ होते हैं । यहाँ के भौगोलिक वातावरण का शौका के सामाजिक और आर्थिक जीवन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है । शौका कुमाऊँ की ही नहीं, भारत की मूल आदिवासी जाति है ।[3] वे स्वयं को राजपूत कहते हैं । कुछ विद्वान शौकों को मंगोल प्रजाति का एक प्रतिनिधि समूह मानते हैं जो हो आज वे बृहत्तर भारतीय समाज के एक अंग हैं ।

शौकाओं में जाति-वर्गगत भिन्नता नहीं पाई जाती । हाँ, पैसा और पद अब सामाजिक स्तर का आधार बनने लगा है । धनी को "स्यंमी" और निर्धन को "यामी" कहा जाता है । गाँव के नामों और स्थान की विशेषताओं के आधार पर शौका कई उपजातियों में विभक्त हैं । जैसे—जोहार के जोहारी, ब्यांस के ब्यांसी, चौदांस के चौदांसी, गर्व्यांग के गर्ब्याल, नाबी के नबियाल, सिरखा के सिर्खाल, सीपू के सीपाल, मार्छा के मार्छाल, तोल्छा के तोर्छा या तोल्छा, गुंजी के गुँज्याल आदि । इन प्रत्येक शौका समूहों की अपनी कुछ सामाजिक परम्परायें हैं । मार्छा तथा जोहारी अन्य शौका समूहों में उच्च समझे जाते हैं शौकों में हिन्दुओं की ही भाँति संयुक्त परिवार की प्रथा है । सारा परिवार प्रगाढ़ प्रेम में आबद्ध रहता है । अतिथि को परमेश्वर के तुल्य मान कर पारम्परिक सत्कार किया जाता है । इस समाज में नारियों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है । शौकों में अपहरण विवाह की प्रथा थी । कुछ समय पूर्व तक "रङ.बङ." नामक प्रथा प्रचलित थी । कई गाँवों के बीच में एक "रङ् बङ् कुड़ी" होती थी, जहाँ युवक-युवतियाँ साथ-साथ रहकर स्वेच्छा से अपने जीवन साथी का चुनाव करते थे । विवाह लड़के या लड़की में किसके घर सम्पन्न होगा, इसका निर्धारण दोनों के बीच गीतात्मक प्रति-योगिता द्वारा होता था । "रंबंच्यिम" (युवागृह) गोंडों के "घोटुल", नागाओं के "मोरुंग", उरावों के "धुमकुरिया" आदि से साम्य रखता है । अब यह प्रथा समाप्त हो चुकी है और माता-पिता की इच्छानुसार विवाह तय होने लगे हैं । शौकों में बाल विवाह और विधवा विवाह की परम्परा नहीं है ।

शौका समाज में पुरुष रंगा पगड़ी झियलै, गैजू (चूड़ीदार-पजामा) और महिलाएँ उत्तरीय तथा अधोवस्त्र के रूप में "च्युंभाला" गाहें में "रंकलचें" सिर में "च्युकरी" और "च्युकला" पहनती हैं । पाँव में घुटनों के नीचे ऊनी जूते "वच्चें" पहनती हैं और कमर में "ज्युज्य" (पाग) बाँधती हैं । अब बाहरी प्रभाव से कोट, पतलून, साड़ी, ब्लाउज, आदि का चलन बढ़ने लगा है । आभूषणों के रूप में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शौका स्त्रियाँ गले में कंठी, खँगुली, बलंडग, च्युच आदि; सिर में बाली, नाक में बीरा, कान में बाली और लक्छेप और हाथ में मुंदरी पहनती हैं। शौकों के भोजन में मांस का प्रधान अंश रहता है। मांस को सुखा कर रखा जाता है। व्यंजनों में छाकू (भात) छम्मा (साग दाल) कुटो (रोटी) पल्ती कुटो (ओगल की रोटी) आदि मुख्य हैं। भेड़, बकरी, पक्षी, और जगली पशुओं का मांस खाया जाता है। नमकीन चाय "ज्या" के साथ "यी" (सत्तू) नाश्ते के रूप में खाया जाता है। "छांग" और "चक्ती" का प्रयोग नशीले पेय के रूप में होता है। शौका समाज में जन्म से लेकर मृत्यु तक जन्मोत्सव, छ्यूचिमो (नवान), मुलिन कोरमो (चूल्हे में प्रवेश), भूमो, पुस्या-बोमो (मुन्डन), बुढ़ानी, ग्वन (अंत्येष्टि) आदि विभिन्न संस्कार सम्पन्न होते हैं।[4]

कुछ लोग शौकों को बौद्ध मतावलम्बी मानते हैं, किन्तु उन पर हिन्दू धर्म का गहरा प्रभाव है। हिन्दुओं के प्रमुख देवी-देवताओं और त्यौहारों को शौका समान रूप से मनाते हैं। अनुष्ठान ब्राह्मणों के बदले डंगरियों द्वारा सम्पन्न होते हैं। शौका शिव्य, माथ्यो, बर्म आदि के रूप में सिद्धि, महेश्वर ब्रह्मा आदि का पूजन करते हैं। परम्परागत शौकों के परम्परागत आराध्य देवों में गबला या धवला, चान, नरसिंह, सचीरी, किवान, बीरसिंह, जमू, दाणू, नमजू, न्यून-तांग, कौंगर, स्यसे आदि प्रमुख हैं।

पं० राहुल सांकृत्यायन ने शौकाओं की भाषा को तिब्बती-वर्मी भाषा-परिवार की माना है।[5] कुमाऊँनी में शौकों की बोली को "शौकिया" कहा जाता है। जहाँ कुमाऊँनी, गढ़वाली, नेपाली, थड़वाटी, या बोक्साड़ी हिन्दी की विभाषाएँ हैं, वहीं "शौकिया" इन सब से भिन्न बनरौतों और तिब्बतियों की बोली से अधिक मेल खाती है। इस बोली का अपना लोक साहित्य है और अपनी उप-बोलियाँ हैं। स्थान भेद से शौकिया बोली की पाँच उपबोलियाँ मिलती हैं — (1) रंका या जोहारी, (2) ब्यांसी, (3) चौदांसी और (4) हूणियाँ, (5) दरमिया।

व्यापार शौकाओं के आर्थिक जीवन का प्रमुख आधार रहा है। शौका व्यापार में बोली के लिए "पण" तथा व्यापारियों के लिए "पणचा" शब्द प्रचलित है। इस दृष्टि से ये प्राचीन पणियों के वंशज प्रतीत होते हैं। किसी समय इनका व्यापार तिब्बत, चीन, मध्येशिया से लेकर गंगा के मैदान तक विस्तृत था। वे महीनों हिमपथों, दर्रों, ऊबड़-खाबड़ भूमि, जंगलों और नदी-नालों को पार कर व्यापार करते थे और भारत में बने सामान को विदेशों की मंडियों तक पहुँचाते थे। तिब्बत से वे नमक, सुहागा, पिपीलिका-स्वर्ण, ऊन, खाल तथा चमड़े आदि का सामान लाते थे और भारत से अनाज, गुड़, तेल, कपड़ा आदि वस्तुएँ ले जाते थे। झुप्पू, भेड़, बकरियाँ, घोड़े आदि उनके वाहन थे। वे आजकल के बनियों की तरह गद्दी में बैठकर व्यापार नहीं करते थे, किन्तु 1962 में चीन की साम्राज्यवादी नीति ने शताब्दियों से चली आ रही इस परम्परा को पूर्णत: समाप्त कर दिया। पशुपालन और भेड़पालन शौकों का सहयोगी व्यवसाय रहा है। भेड़ों से ऊन और मांस प्राप्त किया जाता है। ऊन से पंखियाँ, शाल, दुशाले, कम्बल, कालीन, दन, वस्त्र, थुलमे, चुटके आदि बनाकर नेपाल और भारत के नगरों में इन्हें बेचा जाता था।

शौका दस्तकारी के अद्भुत कारीगर हैं। तिब्बत से ऊन का आयात बन्द होने और सरकार की अपेक्षा के कारण शौकों का परम्परागत ऊन उद्योग भी मरणासन्न है। पहाड़ों के ढालूदार खेतों और निचली घाटियों में जौ, गेहूँ, आलू, फाँफर, चुवा, तम्बाकू, मूली आदि की खेती भी की जाती है। व्यापार और पशुपालन में कमी आने के कारण शौका खेती और नौकरी की ओर झुकने लगे हैं। शिक्षा के व्यापक प्रचार-प्रसार से अन्य जन जातियों की अपेक्षा आज शौका सबसे आगे हैं। सैकड़ों शौका आज उच्च प्रशासनिक पदों, डॉक्टर, वकील, इंजीनियर आदि पेशों और अन्य नौकरियों में कार्यरत हैं।

थाड़ू

जैसे उत्तरी सीमान्त के मूल निवासी बनरौत और शौका हैं, वैसे ही थाड़ू और बोक्सा तराई क्षेत्र के मूल निवासी हैं। आज ये दोनों जन जातियाँ अपनी ही भूमि पर उपेक्षित और पददलित जीवन जीने को विवश हैं। तथाकथित सभ्य लोगों ने इनकी भूमि हड़प कर और सर्वांगीण शोषण करके इन्हें निर्धनता के कगार पर ला खड़ा किया है।

थाड़ुओं की संख्या कुमाऊँ की सभी जनजातियों में सर्वाधिक है। थाड़ुओं के क्षेत्र को "थड़वाट" कहा जाता है। नैनीताल जनपद की किच्छा और खटीमा तहसील थड़वाट क्षेत्र के अन्तर्गत आती है। थाड़ू स्वयं को चित्तौड़ से आये हुये सिसौदिया राजपूतों के वंशज कहते हैं। किन्तु इस बात के कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलते। थाड़ुओं को प्रजातीय गुणों के आधार पर डॉ० मजूमदार ने मंगोल प्रजाति का माना है।[6] कुछ थाड़ू नेपाल की तराई में भी रहते हैं। दक्षिण में इनका प्रसार मझोला तक है।

थाड़ू मोटे तौर पर दो वर्गों में विभक्त हैं—उच्च वर्ग और निम्न वर्ग। इनमें ऊँच-नीच की भावना बहुत मिलती है। प्रत्येक समूह के लोग समूह के भीतर ही खान-पान और विवाहादि सम्बन्ध रखते हैं। इन समूहों या घरानों को "कुरी" कहा जाता है। थाड़ुओं के उच्च समूहों में पाँच कुरियाँ है—1. बाठा, 2. बड़वाउत, 3. बिरतिया, 4 दहाउत और 5. महातुम तथा निम्न समूहों में सात कुरियाँ हैं—1. रावत, 2. डोंगरा, 3. खुंका, 4. राजिया, 5. सौंसा, 6. बुक्सा और 7. जुगिया। उच्च समूहों के पाँचों कुरियों के थाड़ू

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्त्रयँ को राणा प्रताप के वंशज मान कर अपनी उपजाति "राणा" लिखते हैं। सात कुरियों के थाड़ू इनसे कुछ निम्न होते हैं। थाड़ुओं में हिन्दुओं की ही भाँति पितृ सत्तामक परिवार हैं। परिवार में स्त्रियाँ पुरुष को अपने से नीचा समझती हैं और उन्हें चौके में नही आने देती। पुरुष को खाना परोस कर थाल पाँव से खिसका कर देती हैं। पारिवारिक ढाँचा संयुक्त तथा एकाकी दोनों ही प्रकार का है। कुछ समय पहले थाड़ुओं में क्रय विवाह (डोला) और हरण विवाह प्रचलित थे। अब इन पर हिन्दू विवाहों का प्रभाव पड़ने लगा है, पर "भरड़ों" "मंझापटियों" भूमसेन की पूजा, दिलामारी छारा छिन्ता, प्रधान के घर जाना आदि परम्पराएँ अभी भी विवाह के महत्वपूर्ण अंग हैं।[7] विवाह प्रायः माघ में या फुलौरा दूज में सम्पन्न होते हैं। दो तीन महीने बाद चैत या वैशाख में स्त्री पति के घर जाती है। इसे "चाला" कहा जाता है। थाड़ुओं में प्रायः बाल विवाह होते हैं। विधवा विवाह, साली विवाह, डोला विवाह, भाभी विवाह, घरैठा विवाह और तलाकशुदा विवाह भी प्रचलित हैं। तलाक प्रायः स्त्रियों द्वारा ही दिया जाता है। तलाक के बाद वे स्वेच्छापूर्वक पुनर्विवाह कर लेती हैं। थाड़ू समाज में स्त्रियों का स्थान अत्यन्त उच्च है। वे हल चलाने के अतिरिक्त घर और बाजार का सारा काम करती हैं। असली गृहस्वामिनी थड़ुवाइन ही होती है। थाड़ू लोग सीधे-साधे, ईमानदार तथा पक्के दोस्त होते हैं। अपनी मित्रता के उपलक्ष्य में ये मैत्री उत्सव मनाते हैं। पुरुष मित्र, "दिलवर" और स्त्री मित्र "संगन" कहे जाते हैं।

थाड़ुओं की एक जातीय पंचायत होती है। गाँव में प्रधान अत्यन्त महत्वपूर्ण और प्रतिष्ठित व्यक्ति होता है। प्रधान के द्वारा जो झगड़े तय नहीं हो पाते हैं, उन्हें पंचायत के सामने रखा जाता है। पंचायत अस्थाई न्यायालय के तुल्य होती है। इसमें दोनों पक्षों के पंच होते हैं और उनके ऊपर एक निष्पक्ष सरपंच होता है। पंचों की राय सुनने के बाद दिया गया फैसला अन्तिम होता है। पंचायतें प्रायः सभी प्रकार के झगड़ों का निपटारा करती हैं। आधुनिक युग की चोरी, हत्या, डकैती, लूट, बलात्कार, धोखेबाजी आदि कोई भी बुराई थाड़ू समाज में नहीं मिलतीं। भोले-भाले थाड़ुओं का सेठ-साहूकार लोग खूब शोषण करते हैं। गरीब थाड़ू अपने भाई की नौकरी कर लेता है। थाड़ू पुरुष अंगा, कुरता, धोती, टोपी या साफा पहनते हैं और स्त्रियाँ लहँगा, ओढ़नी और अँगियाँ पहनती हैं। वे चवन्नी, अठन्नी या रुपये की माला बना कर पहनती हैं। थाड़ू को बैलों और बैलगाड़ी का बड़ा शौक होता है।[8]

थाड़ुओं का अपना लोक साहित्य है। प्रत्येक गाँव में एक नाचने वाला लड़का होता है। विवाहादि संस्कारों और विभिन्न उत्सवों तथा त्यौहारों के अवसर पर भिन्न-भिन्न लोक-गीत गाये जाते हैं। बाँस, नरकुल, मूँज आदि से थाड़ू अत्यन्त सुन्दर और कलात्मक टोकरियाँ बुनते हैं। टोकरियों पर फूलों, बेल-बूटों और जंगली जानवरों के चित्र उकेरने में थाड़ू स्त्रियाँ सिद्धहस्त होती हैं। थाड़ू नाच-गाने के साथ माघ पूर्णिमा के दिन से होली मनाते हैं। थाड़ुओं को जंगली जानवरों का मांस अत्यन्त प्रिय है। जंगली जानवरों को "खाबर" नामक जाल से मारा जाता है। ये शराब और तम्बाकू भी खूब पीते हैं।

थाड़ुओं का सर्वाधिक परम्परागत पूज्य देवता भूमसेन है। प्रत्येक गाँव में भूमसेन का थान होता है। ये प्रकृति पूजा में विश्वास रखते हैं। देवियों में कालिका, शीतला, ज्वाला, पुरवा, परबतिया, पुन्यागिरी आदि को पूजा जाता है। ये भूत-प्रेत को भी पूजते हैं। "भरड़ों" पर इनका अडिग विश्वास है। "खरगा" और "कुसमेटिया" नामक प्राचीन भरड़ो की प्रेतात्माओं की पूजा की जाती है। इनमें पूर्वज-पूजा भी प्रचलित है। थाड़ू के मकान के पास चबूतरे पर नगरयाई देवी बूढ़े बाबा जैसे पूर्वज देवता के रूप में स्थापित रहते हैं। इन्हें नारियल, बकरा, मुर्गी, शराब और सूअर चढ़ाया जाता है। ये अन्य पड़ोसी संस्कृतियों के प्रभाव से शिव, बालापीर और गुरुनानक की भी पूजा करने लगे हैं। ये जादू-टोने में विश्वास करते हैं। थाड़ुओं को काला जादू में माहिर कहा जाता है। जादू की कला में निपुण थाड़ू को "भरड़ा" कहते हैं। सारे रोग, शोक, दुख-दारिद्रय, भूत-प्रेत बाधा आदि से भरड़ा ही मुक्ति दिला सकता है, ऐसा विश्वास थाड़ुओं में प्रचलित है।

थाड़ू शिकार एवं कंद-मूल-फलों से अपनी उदर पूर्ति करते हैं। जंगलों के विनाश से इन वस्तुओं के दुर्लभ होने के कारण अब थाड़ू कृषि की ओर उन्मुख हो गए। कुछ लोग चटाइयाँ, रस्सियाँ और टोकरियाँ बनाते हैं। कुछ पास-पड़ौस के समृद्ध किसानों के खेतों-मकानों और कुछ सड़कों पर मजदूरी करते हैं। कुछ पढ़े-लिखे थाड़ू सरकारी नौकरियाँ भी करते हैं। इधर तराई में आने वाले नवागंतुकों ने भोले-भाले थाड़ुओं की जमीन हथिया कर उन्हें अपनी ही भूमि से बेदखल कर दिया है। थाड़ू समाज अब भूमिहीन शोषित के रूप में अंतिम साँसें गिन रहा है। किसी समय काले ज्वर, मलेरिया और तराई के हिंस्र व भीषण वन्य जन्तुओं से संघर्ष करता थाड़ू समाज आज सरकार की उपेक्षा के कारण दीन-ही जीवन बिताने के लिए विवश है।

बोक्सा

नैनीताल जिले के पूर्वी भाग की ही भाँि
में बसने वाली जनजाति बोक्सा कही जा
को "बोक्साड़" या "बुक्साड़" कह
नगर तहसील, बहेड़ी तहसील
विस्तृत है। गढ़वाल अ
रहते हैं। जनसंख्या क

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बोक्साओं का तीसरा स्थान है। थाड़ुओं की भाँति बोक्सा भी स्वयं को धारानगर के पवार वंशी राजपूतों के वंशज कहते हैं। शारीरिक बनावट की दृष्टि से ये लोग थाड़ुओं से मिलते-जुलते हैं। एच. एम. इलियट इन्हें अनार्य जाति का मानते हैं। डॉ. धीरेन्द्रनाथ मजूमदार बोक्साओं को भी मंगोल रक्त का मानते है। थाड़ुओं की ही भाँति बोक्सा भी कुमाऊँ की तराई में बसने वाली प्राचीन जाति है।

बोक्सों में ऊँच-नीच की भावना अत्यल्प रूप में मिलती है। इनमें सामाजिक विभेदीकरण का स्थायी पदक्रम नहीं है। पारम्परिक और हिन्दू जातियों के नामों के आधार पर ये निम्न वर्गों में विभक्त हैं—1 चौहान, तोमर, गौड़ आदि, 2. खेड़ों के आधार जैसे पौलगड़ खेड़े के पौलगड़िया गोत, परजिया खेड़े के परिजिया गोत वाले। एक गोत के लोगों में परस्पर विवाह नहीं होता। इनके परिवार पितृ सत्तात्मक होते हैं। मातृपक्ष की तीन पीढ़ियों तक अपने-अपने गोत में विवाह नहीं होते। परिवार में स्त्रियों के स्थान उच्च हैं। विवाह पर हिन्दू वैदिक कर्मकाण्ड का प्रभाव परिलक्षित होता है। रतजगा, छेई काटना, न्यौंता, नहावन, भात, दारबार, सगभन्ती विवाह की प्रमुख रस्में हैं। विवाह में ये मण्डप बनाते हैं। थाड़ुओं या अन्य जातियों से इनके विवाह नहीं होते। इनमें साली विवाह, भाभी विवाह तथा बैठाड़ विवाह प्रचलित हैं। पति और पत्नी दोनों को तलाक देने का अधिकार है। पति या पत्नी के दुर्व्यवहार पर पुरुष या स्त्री सम्बन्ध सन्तानहीनता आदि के कारण पति या पत्नी एक दूसरे को तलाक दे सकते हैं।

छोटे झगड़ों को गाँव प्रधान निबटाता है। बड़े विवादों को तय करने के लिए बोक्सों की अपनी पंचायती व्यवस्था है। पंचायत के सदस्य स्थायी और वंशानुगत होते हैं। पंचायत के सरपंच को "तख्त" कहा जाता है। तख्त तथा पंचायत के अन्य सदस्य निर्धारित गोत के ही होते हैं। पंचायत के निर्णय को स्वीकार न करने वाले व्यक्ति को जाति से बाहर कर दिया जाता है।

थाड़ुओं की अपेक्षा बोक्सों पर हिन्दू धर्म का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है। हिन्दू देवी-देवताओं में ये राम, कृष्ण, शिव, गनेश, दुर्गा, काली, बालसुन्दरी की पूजा करते हैं। हुल्का, मनसर, शीतला आदि सप्त देवियों की पूजा बकरा चढ़ा कर करते हैं। ये ग्राम देवता, वन देवता, कुल देवता को भी पूजते हैं। पीर, नत्थे और प्रधान (बुक्सा देवता) की पूजा करते हैं। पीर के चौतरे को "थरप करना" या थापना कहा जाता है। बोक्सा भूत-प्रेत में भी विश्वास करते हैं। इनके पूर्वज मंत्र-तंत्र और जादू-टोने के लिए प्रसिद्ध थे। पूर्वजों की सिद्धि के किस्से बुक्साड़ के घर-घर में प्रचलित हैं। जगरियों के 'बुक्साड़ की विद्या मारु" कथन में आज भी जम्बू-बुक्साड़ का उल्लेख जादू-टोने के देश के रूप में किया जाता है। बंगाल की तरह बुक्साड़ का जादू भी प्रसिद्ध था। कहते हैं ये लोग मनुष्यों को जादू के द्वारा भेड़ बना देते हैं। होली, दीवाली आदि हिन्दू त्यौहारों के अलावा बोक्से डोंगड़, ढलईया, गोटेर आदि जातीय त्यौहारों को हर्षोल्लास के साथ मनाते हैं। सभी त्यौहारों पर भूमिया की पूजा होती है। त्यौहारों और उत्सवों में थुआल व छिमवाल ब्राह्मण तथा भरड़े उपस्थित रहते हैं।[9]

बोक्सा जंगली मांस और खेती से अपनी गुजर-बसर करते हैं। ये घुमन्तू हैं और अपने गाँव को बार-बार बदलते रहते हैं। कभी-कभी नदी की बालू को धोकर सोना भी निकालते हैं। जंगलों के कटान के बाद अब वे पूर्णतः कृषि पर निर्भर हैं और इनकी घुमक्कड़ी भी समाप्त हो गई है। ये गेहूँ, मक्का, धान, सरसों आदि उगाते हैं। उद्योग-धन्धों की दृष्टि से ये शून्य हैं। बोक्सा पढ़े-लिखे भी नहीं हैं। ये रोहिलखण्डी, देहाती बोली बोलते हैं। थाड़ुओं की ही भाँति सम्पन्न किसान और सेठ-साहूकार इनका निरन्तर शोषण करते आ रहे हैं। आज के सभ्य समाज में अत्यन्त पिछड़े होने से बोक्सा हीन भावना से भी ग्रस्त हैं।

संदर्भ संकेत

1– कुमाऊँ, राहुल सांकृत्यायन, पृ 132।

2– शौका : सीमावर्ती जनजाति, रतनसिंह रायपा, पृ. 6।

3– वही, पृ. 16।

4– शौका : सीमावर्ती जनजाति, रतनसिंह रायपा, पृ. 85।

5– कुमाऊँ राहुल सांकृत्यायन पृ 138।

6– "द थारूज एण्ड देयर ब्लड ग्रुप" जर्नल आफ रायल्स एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, जिल्द 8, संख्या 1, 1932, डॉ. धीरेन्द्रनाथ मजूमदार।

7– कुमाऊँनी संस्कृति, कुमाऊँ के प्रकृति पुत्र : उसकी जनजातियाँ, रमेशचन्द्र तिवारी, पृ. 235।

8– कुमाऊँ का इतिहास, बद्रीदत्त पांडे, पृ. 554।

9– कुमाऊँनी संस्कृति, कुमाऊँ के प्रकृति पुत्र : उसकी जनजातियाँ, रमेशचन्द्र तिवारी, पृ. 247।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विधाएँ

छत्तीसगढ़ी लोकनाट्य रहस

नवल शुक्ल

छत्तीसगढ़ का प्रमुख लोक नाट्य रहस एक आनुष्ठानिक नाट्य विधा है, जिसे प्रमुखतया ग्रामीण अंचलों में श्रद्धा, भक्ति और मनोरंजन के सम्मिलित भाव से आयोजित किया जाता है। इस लोक नाट्य विधा के पीछे शुद्ध मनोरंजन की भावना नहीं है। यह भारतीय परम्परा और आध्यात्म की भाव भूमि पर स्थित लोकमानव का सामूहिक प्रयास और श्रेष्ठ कलागत अभिव्यक्ति है। हमारे नाट्य रहस के पारम्परिक प्रदर्शन में विशाल संख्या में दर्शकों की उपस्थिति प्रत्येक व्यक्ति की स्वप्रेरित सहभागिता, पूरे गांव में कथानक काल के वातावरण का अहसास, स्वजनों और सम्बन्धियों का सतत आवागमन, आदमकद मूर्तियां, साफ सुथरा और सजा-सँवरा गाँव आदि अनेक ऐसी बातें हैं जिससे नाट्य के लिये वेद का विशेषण अत्यंत उपयुक्त लगता है।

रहस का अर्थ है रास या रासलीला। रहस, रास का छत्तीसगढ़ी शब्द है। रहस से तात्पर्य है, संगीत-नृत्य प्रधान कृष्ण का विविध लीलाभिनय। रासलीला, रहस के इसी अर्थ को रेखांकित करती है। यानी रहस और रासलीला अर्थव्युत्पत्ति की दृष्टि से समानार्थी शब्द है। अंतर केवल लोकरंग में है। रहस का अपना समृद्ध छत्तीसगढ़ी लोकरंग है। इसी कारण यह भिन्न और विशिष्ट है। यह आनुष्ठानिक नाट्य विधा है।

रास शब्द छत्तीसगढ़ में आकर रहस के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है, किन्तु इसका सम्बन्ध रहस्य से न होकर रासलीला से है, दरअसल रास को छत्तीसगढ़ी लहजे में कहते समय राहस की ध्वनि निकलती है। यह राहस ही आगे चलकर रहस हो जाता है। वैसे श्री नवल सिंह ने ब्रज के रास को देखकर "रास पंचाध्यायी" और "रहस लावनी" नामक दो पुस्तकें लिखी परन्तु रहस लावनी से छत्तीसगढ़ में रास की जगह रहस का प्रचलन हुआ होगा।

ऐसा मानना उचित प्रतीत नहीं होता कारण कि छत्तीसगढ़ में, रहस के लिये जहां से भी कथा तत्वों को लिया गया है, उसमें लावनी का मौखिक या लिखित उल्लेख नहीं मिलता।

रहस नाट्य विधा के रूप में ब्रज से छत्तीसगढ़ कैसे आया होगा ? कब आया होगा ? और किसके द्वारा इस तरह के कुछ सवाल उठते हैं। इन सवालों का सर्वसम्मत जवाब पाना मुश्किल है। मौखिक जानकारियों के आधार पर, अनुमान से यह कहा जा सकता है कि रहस का यह नाट्य रूप तीर्थाटन में जाने वाले व्यक्तियों के द्वारा आया होगा। कब और किसके द्वारा आगमन हुआ होगा, इस बारे में भी प्रमाणिक तौर पर कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसके लिखित मौखिक कोई प्रमाण नहीं मिलते। बावजूद इसके ऐसा लगता है कि १९वीं शताब्दी के आखिरी दिनों में इसका प्रचलन प्रदर्शन शुरू हुआ होगा। यह अपने प्रारम्भिक समय में मूलतः कथात्मक सांगीतिक रूप में होगा। नृत्य, अभिनय और वर्तमान रंगमंच का विकास काफी समय बाद हुआ होगा। विशेषकर पुतरी (मूर्तियों) का निर्माण और बेड़ा (रंगमंच) का वर्तमान स्वरूप बाद में उभरकर सामने आया होगा अपने प्रारम्भिककाल में यह प्रतीकात्मक होंना चाहिये। स्थानीय कलादृष्टि और सौन्दर्यबोध से इसके वर्तमान स्वरूप का विकास हुआ और इसकी पहचान स्वतन्त्र और निजी बनी।

रहस के वर्तमान स्वरूप, प्रचार-प्रसार और आयोजनों की सतत् शृंखला में जिन व्यक्तियों का उल्लेख होता है, वे हैं ग्राम नरियला मुलमुला के श्री कौशल सिंह, बिसेसर सिंह, केसरी सिंह बिसाहू सिंह और बिलासपुर के मंझिला महाराज। इसके अलावा एक और महत्वपूर्ण नाम है बुल्रीग्राम के रेवाराम का। श्री रेवाराम को कुलीवाला के नाम से जाना-माना जाता है। नरियरा-मुलमुला के सिंह लोगों ने विशेषकर प्रचार-प्रसार का काम किया। मंझिला महाराज ने आयोजनों का और कुलींवाला ने रहस की पाण्डुलिपियों का निर्माण किया।

बारहवी शती में श्री बोपदेव रचित श्रीमद् भागवत् के दशम् स्कंध में कृष्णलीला के रास का उल्लेख पाया जाता है। भारतीय इतिहास के सोलहवीं शताब्दी जो वैष्णव धर्म का उत्कर्ष काल था रास के प्रदर्शनों का उल्लेख बहुतायत रूप में मिलता है। इसके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संस्थापकों में स्वामी वल्लभाचार्य और श्रीनारायण भट्ट के नाम लिये जाते हैं। लेकिन महात्मा हितहरिवंश राय ने भी, जिनके सम्प्रदाय को राधावल्लभ सम्प्रदाय के नाम से जाना जाता है, कृष्ण रास मंडल रचाया। इसमें नृत्य, संगीत, नाट्य को प्रमुख स्थान मिला। इसके बाद रास रचियताओं की एक लम्बी सूची प्राप्त होती है। इनमें वृन्दावनदास और व्रजवासीदास के नाम उल्लेखनीय है।

रहस, मध्य प्रदेश के सिर्फ छत्तीसगढ़ (बिलासपुर) संभाग विशेषकर बिलासपुर, रतनपुर, मुंगेली, जांजगीर, भाटापारा और बिल्हा के क्षेत्र में प्रचलित है। इसका उद्गम श्रीमद्भावत् के दशम स्कंध के अलावा राधा विहार और बृजविलास नामक पुस्तकें है। मुख्यतः इन्हीं तीनों से सामग्री लेकर छत्तीसगढ़ी बोली का पुट देते हुए रहस की पाण्डुलिपियां बनाई गई है। रतनपुर के प्रख्यात रासधारी पंडित ननका सूर्यवंशी के अनुसार यह काम ग्राम कुली के रेवाराम का है। रेवाराम से ही रहस खेलने वाली मंडलियों अथवा रासधारी रहस की पांडुलिपियां ले जाते और उसके आधार पर रहस करते थे। आज के समय में रहस की जितनी भी पाण्डुलिपियां प्राप्त होती हैं, वे सब श्री रेवाराम द्वारा हस्तलिखित पाण्डुलिपि के आधार पर ही तैयार की गई हैं। कुछ लोगों के पास रेवाराम की हस्तलिखित प्रतियां भी है। सभी में कमोवेश भाषा का अन्तर हैं, जो स्वाभविक है।

रहस के दो स्वरूप छत्तीसगढ़ में प्राप्त होते हैं। एक खड़े साज का और दूसरे बैठे साज का। खड़े साज का रहस इस नाट्य विद्या की मुख्य धारा है। यह छत्तीसगढ़ का प्रतिनिधित्व करता है। बैठे साज के रहस का प्रचलन नहीं के बराबर है और यह लोकग्राह्य नहीं है। खड़े साज का रहस, वेड़ा (रंगमंच) के अन्दर किया जाता है। इसका आयोजन सामूहिक तौर पर होता है। इसमें पूरे गांव की साझेदारी हर स्तर पर होती है। पूरा गांव इसमें कमोवेश सजतासंवरता है। वेड़ा के अलावा पूरा गांव ही कृष्णलीला के रंगस्थली का रूप होता है। इसमें थुन्ह (खम्व) और वेड़ा के निर्माण के अलावा पुतरियां (मूर्तियां) बनाई जाती हैं। कृष्णलीला के आनुष्ठानिक प्रदर्शन, (मुख्य मंच) के अलावा बीच-बीच में अन्य जगहों पर भी किये जाते हैं। गोवर्धन लीला, महारास, नागनाथन और कंस वध के प्रसंगों के लिए अस्थाई मंचों का निर्माण किया जाता है।

बैठे साज का रहस एक ही जगह प्रदर्शित किया जाता है। यह भजन और कीर्तन के साथ कथा के रूप में सम्पन्न होता है। खास तौर से यह गणेशोत्सव के समय किया जाता है। इसमें व्रज भाषा की शुद्धता और कथा की शास्त्रीयता के साथ गायकी की धुनों पर अधिक बल दिया जाता है। इसमें स्थानीयता से परहेज की सतत् कोशिश हर स्तर पर होती है। इसमें सामूहिक हिस्सेदारी नहीं होती, बल्कि यह वैयक्तिक आयोजन होता है। रहस का यह स्वरूप एकमात्र रतनपुर में है। इसे रतनपुरिया रहस के नाम से जाना जाता है। रतनपुरिया रहस से संबंधित लोग रहस के पहले स्वरूप को, जो प्रमुख है, उसे "दिहायती" रहस के नाम से सम्बोधित करते हैं। उनके पास भी हस्तलिखित पाण्डुलिपि श्री रेवाराम की होती है, किन्तु परिष्कृत रूप में।

रहस को कई लीलाओं में विभाजित कर खेला जाता है। पूरी कथा को "मामा-भांजा" की कहानी के नाम से भी जाना जाता है यह कथा राजा भोज की वंशावली से प्रारम्भ होती है और उग्रसेन को कृष्ण के द्वारा राजगद्दी सौंपने तक चलती है। राजा भोज की वंशावली के बाद कंस जन्म, कंस का अत्याचार, पृथ्वी वचन, ब्रह्मा वचन, देव स्तुति, देवकी विवाह, कंस का आकाशवाणी से समाचार सुनना, देवकी पर कंस का आक्रमण, वासुदेव की विनती, देवकी मिलाप, देवकी यशोदा मिलन, बल्देव जन्म, देवकी स्वप्न, गर्भ स्तुति, कृष्ण जन्म, कृष्ण का गोकुल पहुँचना, यशोदा से विजली (माया) कन्या, कंस को आकाशवाणी, बधावा, नाड़ा छिनन, छठी उठायन, वृन्दावन बिहारी मुकुट खापनी, गोरस पिलावन, शंकर दर्शन, पायजनियालीला, पूतना-मरण, श्रीधर ब्राह्मण का गमन, कागासुर गमन, सटकासुर गमन, इनका वध, कृष्ण नामकरण, अन्नप्रासन, सखियों द्वारा कृष्ण को गाली, ब्राह्मण का नन्दरानी घर आना, कृष्ण का माटी खाना, सृष्टिदर्शन, शालिकराम पूजन, चन्द्र प्रस्थान, माखन चोरी, उरहन (उलाहना) लीला, उखल बन्धन, यमला-अर्जुन लीला, कृष्ण का वृन्दावन गमन, वकासुर वध, भौरा लीला, प्रथम राधा मिलन, जादू लीला, अघासुर वध, ब्रह्मा मोह लीला, कालिका दमन, गेंद लीला, यशोदा विरह, प्रलम्बासुर वध, बड़ी पनघट लीला, चीर हरण, उरहन, वृन्दावन महत्ता, वंशीहरण, गोवर्धन लीला, दान लीला, पति धर्म लीला, रास लीला, महारास मंगल लीला, अन्तर्ध्यान, राधा विलाप, लुकाउल-छुआउल लीला, हिंडोलना, अक्रूर आगमन, कृष्ण मथुरा गमन, रजक वध, दर्जी मिलन, सुदामा माली लीला, कुबड़ी लीला, धनुष भंग, कुवलिया वध, कंस वध और उग्रसेन राजगद्दी की लीला होती है। इसके उपरांत रहस का आयोजन सम्पन्न होता है।

रहस आयोजन करने से पहले गांव वाले मिल बैठकर बातचीत करते हैं। रहस पर होने वाले खर्च की बातें होती हैं। यदि गांव वालों के बीच रहस के खर्च का वहन करने और रहस की आम सहमति हो जाती है, तो चंदा के रूप में सहयोग राशि लेना शुरू कर दिया जाता है। गांव का कोई एक व्यक्ति या कुछ व्यक्ति मिलकर रासधारी के पास जाते हैं और उससे पंचांग दिखवाकर कोई तिथि, थुन्ह (रहस का प्रतीक खम्भ) गाड़ने और रहस के आरम्भ करने के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

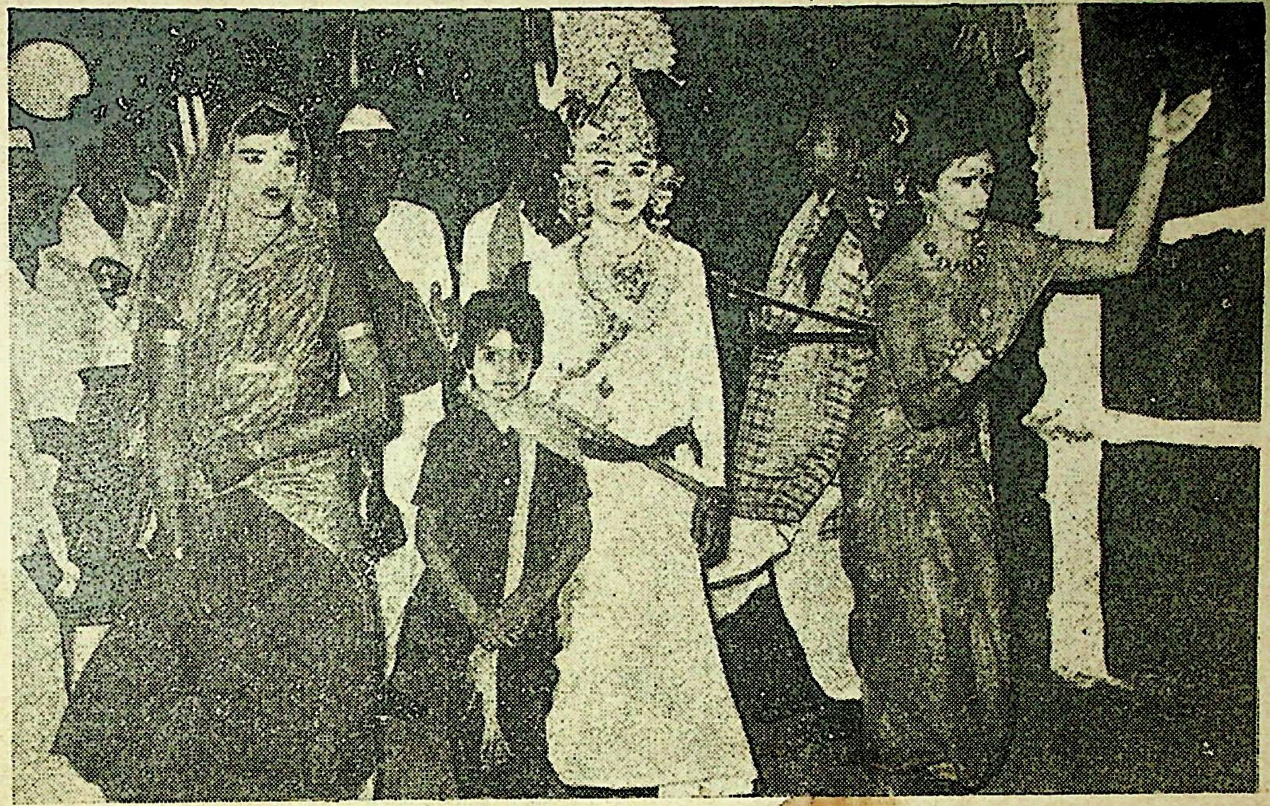

दिन और तिथि का निश्चय करते हैं। वे रहस के लिए उस रास-धारी को कुछ नारियल और रुपये-धोती देकर रहस करने के लिए अनुरोध करते हैं। रासधारी उन तिथियों में किसी और गांव का नारियल स्वीकार नहीं किया होता है, तो वह नारियल स्वीकार करता है। नारियल स्वीकार करने से उस रासधारी द्वारा, रहस किया जाना पक्का हो जाता है।

नारियल देने वाले सदस्य वापस अपने गांव आते हैं और गांव वालों को थुन्ह गाड़ने की तिथि बतलाते हैं। उस निश्चित तिथि को गांव के अधिकांश सदस्य उस स्थल पर एकत्रित होते हैं, जहां रहस किया जाने वाला होता है। स्थानीय पंडित रहस स्थल की हाथ भर जमीन को साफ करता है। वहां पर गोबर और दूब की घास रखकर, सिन्दूर लगाते हुए मंत्रोच्चार के साथ पानी छिड़कता है। गांव का कोई एक व्यक्ति पूरे गांव की तरफ से पूजन कर्म में भाग लेता है। इसके बाद पंडित के निर्देश पर गांव के पांच व्यक्ति मिलकर साबल से उस जमीन में एक गड्ढा बनाते हैं। जब गड्ढा पूरी तरह से बन जाता है तो उस गड्ढे में हल्दी, पैसा डालकर लकड़ी का एक बड़ा खम्बा गाड़ दिया जाता है। इसके बाद नारियल फोड़कर पूरे गांव में प्रसाद बांट दिया जाता है। सिन्दूर का टीका लगाया जाता है। इस तरह से थुन्ह गड़ने की क्रिया सम्पन्न होती है। यहां बड़ों और युवकों के बीच आयोजन संबंधी बातचीत होती है। इसमें कौन किस तरह से आयोजन में सहयोग देगा, इसकी चर्चा होती है। इसके अलावा रासधारी मंडली, उसके प्रदर्शन की ख्याति, नचकार (नर्तक) परी, जोकर और छैला पार्टी (नर्तक दल) की भी चर्चाएं होती हैं। उसे तय किया जाता है। कितनी मूर्तियां बनवाई जायेंगी और कितना खर्च आयेगा इस पर भी खुलकर बातचीत होती है। बेड़ा रंगमंच के आकार-प्रकार और स्वरूप पर काफी वाद-विवाद होता है। कोई सामान्य बेड़ा की बात करता है कोई विशेष बेड़ा की, तो कोई चक्राकार घूमने वाले बेड़ा की। अन्ततः सभी बातें स्वाभाविक रूप से तय हो जाती है और लोग अपने-अपने घर चले जाते हैं।

जिस गांव में रहस का थुन्ह गाड़ा जाता है, उस गांव के लोग अपने मित्र-परिचितों को रहस होने की तिथि की सूचना देते हैं। अपने सम्बन्धियों-रिश्तेदारों को खबर करते हैं और उक्त अवसर पर आमन्त्रित करते हैं। हाट-बाजारों में इस पर बात होती है और धीरे-धीरे यह खबर आस-पास के दस-बीस गांव तक फैल जाती है।

थुन्ह के गड़ते ही गांव वाले एक या एक से अधिक चितेर (मूर्तिकार) से सम्बन्ध स्थापित करते हैं। नारियल देकर अपने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रहस के लिए आवश्यक पुतरी (मूर्ति) बनाने का आग्रह करते हैं। चितेर नारियल स्वीकार करने के बाद मूर्तियां बनाना प्रारम्भ कर देता है। यदि चितेर दूसरे गांव का होता है, तो वह रहस वाले गांव में आकर मूर्तियां बनाना शुरू करता है। चितेर के आवास और भोजन की व्यवस्था गांव करता है। वह लगभग एक माह में आवश्यक मूर्तियों का निर्माण करता है। चितेर को सहयोग के लिए गांव के तीन-चार आदमी होते हैं, जो उसके निर्देशानुसार बैलगाड़ी पर मिट्टी लाते हैं, उसे गीला करते हैं और अन्य छोटे-मोटे काम में उसे सहयोग देते हैं।

मूर्तियों की अधिक संख्या "छः आगर छः कोरी" यानी एक सौ छब्बीस हो सकती है। लेकिन मूर्तियों के बनाने और उसको रंगने में खर्च बहुत अधिक होता है। इस कारण तीस–चालीस मूर्तियां बनाई जाती हैं कम से कम दस मूर्तियों में काम चल जाता है। ये मूर्तियां गणेश, राधा-कृष्ण, रिद्धि सिद्ध, महावीर, गरुड़, ब्रह्मा, शंकर, परीक्षित, शुकदेव और कंश की होती हैं। कभी-कभी तो इन मूर्तियों की बनाई का खर्च गांव नहीं उठा पाता तो इनकी तस्वीरें बेड़ा में टांगकर रहस का खेल खेला जाता है। उपर्युक्त मूर्तियां रहस की कथा का परिवेश निर्मित करती हैं। गणेश की मूर्ति मंगल के लिए होती है। रिद्धि सिद्धि शुभ्रता के साथ कार्य को कुशलतापूर्वक संपादित करवाती है। महावीर द्वारपाल गरुड़वाहन शुकदेव, कथावाचक, परीक्षित श्रोता और शंकर लीला के दर्शक के रूप में अवस्थित होते हैं। ब्रह्मा दुखी धरती को वरदान देते हुये दिखाये जाते हैं। इन सभी देवताओं की मूर्तियों की उपस्थिति के संदर्भों का साम्य रास की कथा से है।

मूर्तियां बनाने के लिये सर्वप्रथम पुआल और लकड़ी के आकार बनाते हैं। इस आकार पर गुंथी हुई मिट्टी की लोई की परतें चढ़ाते हैं। इस परत पर मिट्टी की लोई में टाट का टुकड़ा मिलाकर दूसरी परत चढ़ाते हैं टाट के कारण मिट्टी के सूखने पर कम और पतली दरारें पड़ती है। यह परत सूख जाती है, तो इस पर फिर चिकनी मिट्टी का लेप चढ़ाते हैं। इसके सूखने पर मूर्ति की रंगाई की जाती है। रंगों में सफेद लाल नीला, हरा, पीला, काला, सुनहरा और गुलाबी रंगों का उपयोग किया जाता है। इस प्रक्रिया में सिर्फ मूर्तियों की आंखें नहीं बनाई जाती है। अर्थात् आंखों को रंगों के माध्यम से रहस के प्रारम्भिक दिन, रासधारी के पूजा करने के उपरांत बनाई जाती है। मूर्तियां छः सात से दस पन्द्रह फीट तक की बनाई जाती है।

रहस के रंगमंच की संरचना आनुष्ठानिक किन्तु विशिष्ट होती है। इसे बेड़ा कहते हैं। बेड़ा का मतलब है वाड़ा अथवा घेरा। इस बेड़ा के अन्दर ही रहस का प्रतीक चिन्ह "कदम्ब का पेड़" और आवश्यक मूर्तियां होती हैं। इस बेड़ा के अन्दर ही लीला के स्तर पर रहस का अधिकांश कार्य व्यापार सम्पन्न होता है। लेकिन छत्तीसगढ़ी रहस का रंगमंच सिर्फ बेड़ा तक ही सीमित नहीं है। कमोवेश पूरा गांव रंगमंच के रूप में उभरकर आता है। गांव के घर अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार सजते हैं। किसी घर के सामने आम की पत्तियां बंधी होती हैं, तो कहीं व्यक्तिगत स्तर पर चितेर द्वारा मूर्तियाँ बनवाई जाती हैं इसके अलावा गोवर्धन लीला नाथनाथन, महारास और कंस वध बेड़ा के बाहर किया जाता है। गोवर्धन लीला बेड़ा के आसपास, नागनाथन तालाब में, महारास गौठान (जहाँ गायें सामूहिक रूप से रहती हैं) या किसी अन्य समतल जगह पर, तुरन्त बनाये बेड़ा में ओर कंश वध उस जगह पर जहाँ पर मूर्ति रखी जाती है सम्पन्न होता है।

बेड़ा तीन प्रकार के हों सकते हैं। पहला बेड़ा वह होता है जिसमें सिर्फ कदम्ब का पेड़ बनाया गया हो। दूसरा बेड़ा कदम्ब के साथ कम से कम चार मूर्तियां गणेश, राधाकृष्ण और कंस का होता है। तीसरे प्रकार का बेड़ा कदम्ब का पेड़ और चार से लेकर एक सौ छब्बीस मूर्तियों में सभी बेड़ा के अंदर नहीं होती। वह गांव के किसी भी कोने में कहीं भी रखी जाती हैं।

तीसरे प्रकार का बेड़ा दो तरह से बनाया जाता है। यह बेड़ा का विकसित रूप है। इसमें रैसे अधिक खर्च होते हैं। तीसरे प्रकार के बेड़े का एक रूप तो स्थिर होता है। लेकिन दूसरा रूप वृत्ताकार परिधि में गतिशील होता है। स्थिर रूप वाले बेड़ा में रासधारी कदम्ब के पेड़ के चारों ओर घूमते हुए लीला करते हैं, लेकिन गतिशील रूप में पूरा बेड़ा घूमता रहता है। इसे घुमाने के लिए आसपास लोग बैठे रहते हैं। इन दोनों तरह के बेड़ा की ख़ूब साज-सज्जा की जाती है। इसे फूल पत्ती और झंडियों से सजाया जाता है। बेड़ा की छत लकड़ी, पैरा और पेड़ की हरी शाखाओं से तैयार की जाती है। आजकल कपड़े की चांदनी से बेड़ा का छत्र बनाया जाता है।

बेड़ा बनाने के पहले थुन्ह (खम्भ) गाड़ने की अनुष्ठानिक क्रिया की जाती है। इसी खम्भ पर पैरा की कागज से निर्मित अमर बेल लपेटा जाता है, जिसे कदम्ब का पेड़ कहा जाता है। इस कदम्ब के पेड़ के चारों ओर आयताकार और करीब दो मीटर ऊंचाई का चबूतरा बनाया जाता है। इस चबूतरा में पूरब की तरफ जो बेड़ा का मुख्य प्रवेश द्वार होता है, दीरखा बनाई जाती जाती है। इसमें कलश रखकर उस पर दीपक जलाया जाता है। यह दीपक रहस के प्रारम्भ से उसके सम्पन्न होते तक लगातार जलाया जाता है।

चबूतरा के ऊपर राधा-कृष्ण, गणेश और रिद्धि-सिद्धि की छोटी-छोटी मूर्तियां रखी होती हैं और बेड़ा के चारों कोने पर मूर्तियां

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रखी जाती हैं। पूरब–उत्तर के कोने में ब्रह्मा, पूरब–दक्खिन में शंकर, दक्खिन–पश्चिम में परीक्षित और पश्चिम–उत्तर में शुकदेव की मूर्ति स्थापित रहती है, पूरब की ओर बेड़ा से लगा हुआ बेड़ा का गलियारा होता है। इस गलियारे में एक ओर महावीर और दूसरी ओर गरुड़ की अपेक्षाकृत बड़ी मूर्ति होती है। ये द्वारपाल होते हैं। जो रहस निर्विघ्न संपन्न करवाने के लिए द्वार पर डटे होते हैं। कंस की मूर्ति बेड़ा से बाहर होती है।

रहस के प्रारम्भिक दिन तीन सौ साठ दीपक जलाकर बेड़ा के चारों तरफ सजाया जाता है। दीपक गांव की सम्पन्नता के अनुसार पूरे दिन, रात भर या एक-दो घंटे अथवा एक-दो दिन के लिए ही एक-दो घंटे तक जलाये जाते हैं। यदि यह भी संभव नहीं होता तो कलश के ऊपर का दीपक ही पर्याप्त होता है।

रहस पात्रों को दो भागों में बांटा जा सकता है। एक रासधारी की मण्डली और दो छैला पार्टी या नाच पार्टी। पहले रासधारी की पार्टी नौ लोगों से मिलकर बनती थी, इसमें दो चीकरहा (चिकारा बजाने वाले), दो मंजिरहा (मंजीरा बजाने वाले), दो नचकार (स्त्री वेश में पुरुष नर्तक), एक तबलहा (तबला बजाने वाला), एक मशलहा (मशाल वाला) और मुकुटधारी (कृष्ण) हुआ करते थे। ये सभी लोग अपने वाद्यों को कमर में बांधकर अथवा हाथ में लेकर रात भर घूमकर बजाते हुए कृष्णलीला किया करते थे। मशलहा, अपने हाथ में पकड़े मशाल से बेड़ा में प्रकाश पैदा करता था। साथ ही बीच-बीच में जोकर की भूमिका भी अदा करता था। मसलहा के कारण रहस की एकरसता से दर्शकों को निजात मिलती थी और वे झपकियां लेना छोड़कर फिर से ताजादम होकर रहस देखते थे। इन्हीं नौ लोगों में से कोई भी एक सदस्य मुख्य रासधारी होता था, जो रहस की कथा को गाते हुये आगे बढ़ता था। उस समय रहस में हारमोनियम का प्रवेश नहीं हुआ था।

आगे चलकर रहस के पात्रों में वृद्धि हुई। खासतौर से नचकार (नर्तकों) की संख्या में। ये आजकल चार से छः तक होते हैं बाकी संख्याएं यथावत हैं सिर्फ हारमोनियम अक्सर रासधारी जिसे पंडित के नाम से जाना जाता है, वह इसे गले से लटकाकर अपनी कमर में बांधे रहता है और वाद्य से संगत भी करता है। आजकल रहस में मसलहा (मशाल वाला पात्र नहीं होता। यह पात्र जो कामेडी का काम भी किया करता था–विकसित और संशोधित होकर छैला पार्टी के रूप में विद्यमान है। छैला पार्टी भी रहस पार्टी के साथ ही चलती है, इनमें दो से चार तक जोकर, चार नचकार एक परी (अनुभवी नचकार) और वाद्य पर संगत करने वाले होते हैं।

रहस का पंडित जो कर्मगत विशेषण है जातिगत नहीं. सर्वप्रथम लीला की कथा को गाता है। गीत से इस टुकड़े को उसके साथ के वादक कलाकार दोहराते हैं। फिर उसी टुकड़े को कृष्ण के साथ घूमने वाले नचकार नृत्य करते हुए गाते हैं। यह क्रम एक से तीन बार तक चलता है। तब तक बेड़ा का कम से कम एक चक्कर पूरा हो जाता है। पंडित फिर उसके बाद की कथा को गाने लगता है। बीच-बीच में वह व्याख्या भी करता चलता है। पंडित रहस का मुख्य व्यक्ति होता है। इसी के निर्देश पर रहस की समस्त क्रियायें संपादित होती हैं। यह रहस बेडा में एक बार आता है तो उस दिन के प्रदर्शन के बाद ही बेड़ा से बाहर निकलता है। आजकल यह परम्परा कुछ ढीली हो गई है। रासधारी द्वारा पहले पानी, चाय तक बीच में नहीं पी जाती थी।

रहस के नचकार कम उम्र के स्त्री वेष में युवक होते हैं। ये कथा गायकी पर नृत्य करते हैं। नृत्य के साथ गायकी को दुहराते हैं और कभी-कभी संवाद के साथ अभिनय भी करते हैं। अभिनय नृत्य पूरक होता है और इसमें नाट्य तत्व कम होते हैं। नचकार जो कृष्ण के साथ-साथ चलते हैं, वे कृष्ण से सम्बन्धित सभी स्त्री भूमिकाओं को भी निभाते चलते हैं। जैसे कभी यशोदा की भूमिका में तो कभी गोपियों की भूमिका में।

छैला पार्टी में तीन-चार नचकार, एक परी, तीन जोकर, तबला हारमोनियम, ढोलक और मंजीरा बजाने वाले कलाकार होते हैं। इसमें मुख्य भूमिका जोकर और परी की होती है। ये हास्य कथानकों को अभिनीत करते हैं। सबसे पहले जोकर के साथ नर्तकों के अलावा वादक कलाकार आते हैं। वादक बेड़ा के अन्दर एक कोने में बैठ जाते हैं और जोकर हास्य व्यंग्यात्मक संवाद के साथ गीत गाते हैं। नचकार इस पर नाचते हैं। दर्शकों द्वारा छत्तीसगढ़ी गीत और नृत्यों की फरमाइश की जाती है, जिसे ये पूरा करते हैं। इसके एवज में इन्हें दर्शकों की तरफ से पुरस्कार राशि तुरन्त ही दी जाती है कुछ गीत नृत्यों के उपरांत बेड़ा में "परी" का आगमन होता है। नृत्य, गीत और अभिनय में ज नचकार अनुभवी होते हैं और मध्यम अवस्था में आ जाते हैं, वे परी कहलाते हैं। "परी" नामक पात्र भी नचकार का ही काम करता है लेकिन यह कार्य अधिक कलात्मक और आकर्षक होता है।

छैला पार्टी के साथ छैला पार्टी के नचकार और परी का काम विशुद्ध लोकरंजन का होता है। इसके लिए वे किन्हीं सीमाओं में बंधकर काम नहीं करते और कोई भी गीत, नृत्यसंवाद करते बोलते हैं। विपरीत इसके रहस के नचकार रहस की गरिमा और आदर्श के अन्दर ही अपने नृत्य गीत और अभिनय प्रस्तुत करते हैं।

लीला के समय पहले पात्र रूप भरा करते थे। आजकल उसकी जगह मुखौटे का प्रचलन है। इसे अच्छा भी माना जाता हैं। विभिन्न देवी-देवताओं और राक्षसों के अभिनय मुखौटा धारण किये जाते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रासधारी और रासवादक धोती, कुरता, पगड़ी, फेंटवा, चादर और कम्बल धारण करते है। पंडित के माथे पर चंदन का टीका होता है। नचकार और परी साड़ी, ब्लाउज और लम्बी चोटी में होती है। ये स्नो, पाउडर और लिपिस्टिक वगैर सौंदर्य प्रसाधनों का इस्तेमाल करती है। जोकर धोती, कुरता, काला कोट आदि पहनते हैं। छुही-मिट्टी, कोयला, चंदन, मुड़दाल,पाउडर और स्नो का प्रसाधन करते हैं। हाथ में लाठी लिये रहते हैं। कृष्ण स्नो, पाउडर, लिपिस्टिक, सिन्दूर, चंदन और पन्नी का मुकुट धारण करते है।

वाद्यों में हारमोनियम, ढोलक, तवला, मंजीरा, चिकारा होता है। चिकारा का प्रचलन आजकल कम हो गया है। रहस की पार्टियां खड़े साज की होती है। अर्थात् ये खड़े होकर घूमते हुये बजाते हैं। छैला पार्टी के वादक बैठकर वादन करते हैं।

रहस पंचांग के अनुसार निश्चित तिथि को प्रारम्भ होता है। रहस के प्रारम्भ के दिन पंचक नहीं होना चाहिये। साथ ही रहस एक ही पक्ष में सम्पन्न हो जाना चाहिये। उक्त संदर्भ को ध्यान में रखकर ही रहस की तिथि निश्चित की जाती है।

रहस प्रत्येक दिन दो सत्रों में सम्पन्न होता है। इसका प्रदर्शन रात के आठ-नौ बजे से सुबह के छः सात बजे तक होता है। सबसे पहले आरती होती है फिर गारी और बियारी के बाद रहस का प्रदर्शन प्रारम्भ होता है। यह ढाई-तीन घंटे तक चलता है। इसके बाद छैला पार्टी आती है। यह भी दो-तीन घंटे तक प्रदर्शन करती है। इसी क्रम में फिर से रहस और अन्त में छैला पार्टी द्वारा प्रदर्शन होता है।

दर्शक वेड़ा के चारों ओर बैठते हैं। ठंड लगने पर दर्शकों द्वारा आग जला ली जाती है। रहस के अगल-बगल में छोटे-छोटे झाले बने होते हैं ये इसमें भी बैठकर रहस देखते हैं। ये आस-पास के पांच दस गांव से खटिया, बैलगाड़ी और साईकिलों पर आते हैं और सुबह कार्यक्रम की समाप्ति पर जाते हैं। इसके अलावा रहस देखने के लिए गांव के रिश्तेदार सम्बन्धी भी आते हैं, जो रहस की समाप्ति पर अपने परिवार के साथ वापस जाते हैं।

पार्टी का भोजन गांव के किसी भी एक घर में एक दिन होता है। एक दिन से अधिक कोई भी व्यक्ति अपने घर पर भोजन करा सकता है। रहस समाप्त होते समय कृष्ण की मूर्ति को जो व्यक्ति उतार कर अपने घर लाता है उसी के घर पर उस दिन भोजन व्यवस्था होती है। और दूसरे दिन के प्रदर्शन के लिए कलाकार उसी घर से तैयार होकर कृष्ण की पूजा के बाद बेड़ा में जाते हैं।

रहस की समाप्ति पर रहस मंडली को गांव की तरफ से दो से दस हजार तक रुपये के अलावा गाय-बैल, धान-चावल, घी, कपड़े दिये जाते हैं। नचकार और परी गांव के किसी व्यक्ति को अपने

घुंघरू देते हैं। इसके बदले वह व्यक्ति धान, चावल, रुपया-पैसा और कपड़ा उन्हें देता है।

रहस का उत्स ब्रज से है, बावजूद इसके यह छत्तीसगढ़ी जीवन और संस्कृति से मिलकर अपने स्वतन्त्र स्वरूप में यहां विद्यमान है और इसकी समृद्ध परम्परा है। इसी कारण रहस की निजी पहचान है। रहस के अन्य ढेर सारे पहलू हैं। ये सभी पहलू मौलिक होने के कारण आकपित करते हैं और संस्कृति के जीवन तत्वों से हमारा साक्षात्कार कराते हैं।

जिस दिन रहस अपने आनुष्ठानिक कर्म या प्रदर्शन के रूप में प्रारम्भ होता है उस दिन सुबह से ही रहस स्थल पर चाय, पान, नाश्ते के अलावा अन्य तरह की छोटी-मोटी दुकानें लगनी शुरू हो जाती हैं। ये दुकानें शाम तक पूरी तरह से तैयार हो जाती हैं और दर्शकों का आवागमन शुरू हो जाता है। रहस के प्रदर्शन के पहले लगभग रात के नौ-दस बजे ग्रामीण जन बारी-बारी से सभी मूर्तियों के पास जाते हैं। उनके पांव छूते हैं और मूर्तियों के सौन्दर्य की चर्चा करते हैं।

रास मंडली शाम के छः सात बजे भोजनोपरांत रंगमंच के करीब का वह घर जहां ये रात भर मेकअप करते हैं, वहां के लिए प्रस्थान करते हैं। मेकअप की जाने वाली जगह को स्थानीय भाषा में मेकअप खोली कहा जाता है। मेकअप खोली में आने के बाद सभी पात्र अपना शृंगार शुरू करते हैं पात्रानुसार शृंगार कर लेने के बाद जब ये प्रदर्शन के लिए पूर्णतः तैयार हो जाते हैं, तब गांव की एक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्त्री आरती के साथ मेकअप खोली पहुँचती है। और रासधारी से बेड़ा के अन्दर चलकर रहस का प्रदर्शन प्रारम्भ करने का अनुरोध करती है। अनुरोध के बाद रासधारी अपने स्थान से अपनी पूरी मण्डली के साथ उठता है और कृष्ण से संबंधित भजन गाते हुए उस महिला के साथ बेड़ा स्थल तक आता है। रास्ते भर वह महिला रास मण्डली की आरती उतारते हुए चलती है। बेड़ा के पास आकर पूरी मण्डली रुक जाती है और भजन बंद हो जाता है।

बेड़ा के अन्दर मूर्ति बनाने वाला व्यक्ति रास मण्डली की अगवानी में खड़ा रहता है, वह रास मण्डली का अभिवादन करता है। इसी समय कहीं-कहीं पर रासधारी और मूर्तिकार के बीच बातचीत होती है। वे संवाद इस तरह से होते हैं—

रासधारी — नमस्कार
मूर्तिकार — नमस्कार
रासधारी — सब कुछ ठीक-ठाक है ?
मूर्तिकार — हां, सब ठीक-ठाक है आपका इंतजार कर रहा हूँ।
रासधारी — आप खुश हैं ? आपका मान-सम्मान है ?
मूर्तिकार — हाँ हाँ सब ठीक है।
रासधारी — आपको किसी प्रकार की परेशानी तो नहीं हुई ? कोई विघ्न उपस्थित हुआ क्या ?
मूर्तिकार — नहीं कोई विघ्न नहीं हुआ, किसी तरह की परेशानी नहीं हुई। सब आनंद मंगल है।
रासधारी — तो क्या आप रहस के लिए यह मंच हमें सौंपेंगे।
मूर्तिकार — हां, में आपके लिए ही खड़ा हूँ। कृपया आप यह नारियल फल ग्रहण करें और इस बेड़ा में प्रवेश करें।

मूर्तिकार द्वारा बेड़ा सौंपने के बाद रासधारी अपनी मण्डली के साथ बेड़ा में प्रवेश करता है और प्राप्त नारियल राधा-कृष्ण, गणेश आदि को अर्पित कर फोड़ता है और उसे प्रसाद के रूप में वितरित करने के लिये किसी व्यक्ति को सौंप देता है। ठीक इसी समय नर्तकों का नृत्य प्रारम्भ होता है। नृत्य के साथ ही साथ बेड़ा के अन्दर उपस्थित देवी देवताओं जैसे राधा-कृष्ण, विष्णु ब्रह्मा, शंकर, परीक्षित, हनुमान, गरुड़ गणेश आदि की आरती उतारी जाती है। आरती के दौरान नर्तकियों और रासमण्डली द्वारा आरती का गायन होता है। हर दूसरी रास मण्डली की आरती पृथक होती है। उदाहरण के लिये आरती का गायन इस प्रकार का होता है।

अरजी सुनाऊँ, विनती सुनाऊँ
अपन गुरू जी ला मालिक अरजी सुनाऊं।
ए....आसन विराज हो आसन विराज
अपने-अपने आसन विराज।

इसके बाद सबसे पहले गणेश आरती उतारी जाती है। गणेश का मुखौटा धारण कर एक किशोर किसी व्यक्ति की गोद में बैठकर मेकअप खोली से बेड़ा के अन्दर आता है। गणेश आने के बाद उनकी आरती उतारी जाती है और उनसे संबंधित गीत गाये जाते हैं। इसी तरह बारी-बारी से अनेक देवताओं का आगमन होता है। उनकी पूजा अर्चना की जाती है और आरती उतारी जाती है। साथ ही गणेश, सरस्वती आदि देवी देवता रहस के निर्विघ्न पूर्ण होने का आशीर्वचन देते हैं।

इसी तरह से कृष्ण की आरती के बाद कृष्ण से संबंधित गीत गाये जाते हैं। इन गीतों को कभी-कभी फिल्मी तर्ज, गजल, कव्वाली की तर्ज पर भी गाया जाता है जैसे: —

तुम्हारे एक नजर से तो तर जायेंगे श्याम
तुम्हारे बिना तो हम मर जायेंगे श्याम।
नाम ली तो नाम ली, मुरलीधर कन्हइया की
मुरली तेरी रसभरी और बोली तो निराला है आदि...

प्रदर्शन के दौरान मुख्य भाषा व्यवहार छत्तीसगढ़ी बोली होती है किन्तु बीच-बीच में खड़ी बोली का भी इस्तेमाल किया जाता है। खड़ी बोली के इस्तेमाल के समय छत्तीसगढ़ी प्रभाव के कारण भाषा के स्तर पर लिंग भेद का ध्यान नहीं रखा जाता है। बावजूद इसके भाषा दोष खटकता नहीं है। छत्तीसगढ़ी रहस नें छत्तीसगढ़ी लोकजीवन के तत्वों का समावेश है किन्तु कथा की सारी भावभूमि कृष्ण चरित लीलाओं पर ही केन्द्रित है। इसके महानायक कृष्ण हमारी संस्कृति और कला, काव्य और वाचिक परम्परा के भी स्तंभ है। रहस अपनी अध्यात्मिक पृष्ठभूमि और लौकिक प्रस्तुति में उन्हीं की महानता का लोकगान है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कठपुतली
विरासत और वर्तमान स्वरूप

सुनील मिश्र

कठपुतली का इतिहास हमारी संस्कृति में बहुत पुराना है। काफी लंबे समय से यह कला जनाकर्षण का केन्द्र रही है। कठ-पुतली कला ने न केवल देश अपितु विदेशों में भी अपनी खूबियों और विशिष्टताओं से अलग पहचान बनाई है। कठपुतली से हर वर्ग के दर्शक का लगाव होता है। आम तौर पर देखा जाये तो हर कोई कहने वाला कठपुतली के संदर्भ में बेखटके यह कह देता है कि यह बच्चों के मनोरंजन का खेल है। एकबारगी सोचकर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह बच्चों का खेल है परन्तु गौर से विचार करें तो इस बात से इंकार करते नहीं बनेगा कि चाहे बच्चा हो या बड़ा, जवान हो या बूढ़ा, कठपुतली का खेल देख आल्हादित हुये बगैर इनमें से किसी का भी रह पाना नामुमकिन है। आज एक ओर कठपुतली हमारी प्रदर्शनकारी लोक परम्परा में अपना गहरा महत्व रखती है वहीं दूसरी ओर यह कला वह स्थान या वह जगह नहीं बना सकी है जो पुरातन तथा लोकरंजन के दूसरे खेलों ने बनाई है।

कठपुतली के संदर्भ में एक कलाकार जो स्वयं लंबे समय से इस कला के संवर्धन हेतु उपायरत है, का मानना है कि यह कला ईसा के तीन से पांच शताब्दी पूर्व भारत में प्रारम्भ हुई। भारत में यह कला समूचे विश्व से होकर पहुँची जबकि पश्चिमी खण्डों में तो कठपुतली का इतिहास पांच हजार वर्ष पुराना था। कठपुतलियों की बात करते-करते उन बत्तीस पुतलियों के इतिहास को भी नकारा नहीं जा सकता जो उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य के सिंहासन में जड़ी थीं। पुतलियों की कहानी के बारे में यह भी एक तथ्य है। ये पुतलियां राजा विक्रमादित्य को न्यायपालन की प्रेरणा दिया करती थीं। अपनी आँखों से कठपुतली प्रदर्शन को तो न जाने कब से देखने आ रहे हैं हम। भारत में यद्यपि कठपुतली के विकास हेतु समुचित साधन समय-समय पर उपलब्ध नहीं हो पाये परन्तु विदेशों में कठ-पुतली कला का उत्साहपूर्वक संवर्धन हुआ। वैसे कठपुतली को लेकर पिछले कुछ वर्षों में पर्याप्त बदलाव और नवीनता आई है जिसे नकारा नहीं जा सकता पर फिर भी जो अपेक्षा की जाती है अथवा जिस स्थिति में आज कठपुतली को होना चाहिए था वह स्थिति नहीं बन पा रही है। आज भी कठपुतली का खेल दिखाने वाले सबसे पहले अपने पेट के लिए चिंतित है। कठपुतली का केन्द्र राजस्थान है। राजस्थान के गांवों में कठपुतली का खेल दिखाने वाले प्रायः होते ही हैं जो इस खेल के माध्यम से अपनी जीविका कमाने अपने कस्बे, अपने प्रदेश से बाहर निकलते हैं और देश के कोने-कोने में जाकर कठपुतली दिखाते हैं पर उनके जीवन स्तर में आज भी कोई बदलाव नहीं आया है। मुँह में पिपीहरी दबाये उंगलियों में कठपुतलियों की बागडोर थामे ये कलाकार अपनी कठपुतलियों के जरिये असंख्य दर्शकों को जी भरके हंसा चुकने के बाद जब पैसे मांगते हैं तो एक-एक करके देखने वाले खिसकने लगते हैं। उस समय मनोरंजन का स्वस्थ और मनुहारी आनन्द लेने वाला दर्शक कठपुतली कलाकार के लिए अपना दायित्व नहीं जान पाता।

कठपुतली कला का मूल राजस्थान में होने के नाते वहाँ एक से बढ़कर एक कठपुतली कला के कुशल साधक हैं। जो कठपुतली के खेल दिखाते हैं, वे नये नहीं होते। यह कला उनकी पिछली कई पीढ़ियों में विद्यमान रह चुकी होती है और पुश्तैनी रूप में वे इसे निर्वाह कर रहे होते हैं। ज्यादातर एक ही परिवार के अधिकाधिक लोग इस कला में माहिर होते हैं। प्रारम्भ में काफी लंबे समय तक राजस्थान के महाराजा अमरसिंह राठौर के कथानक का इस कला द्वारा प्रदर्शन किया जाता रहा जिसमें युद्ध के प्रसंग और हास्य के मौलिक दृश्य खेले जाते थे। उस जमाने के चारण और भाटों की कुशलता और योग्यता के अनुरूप यह प्रस्तुति की कला उन्हीं से विकसित हुई। तब से लेकर आज तक राजा अमरसिंह राठौर की कथा का कठपुतली में वर्चस्व कायम है। कठपुतली कला और कठ-पुतली खेलों में राष्ट्रीयता और जन जागरण की भावना विद्यमान है इस बात से कतई इंकार नहीं। अपनी तमाम खूबियों और विशेष-ताओं के द्वारा ही यह कला भारत में सीमित न रहकर विदेशों में भी लोकप्रिय हुई। देवीलाल सांभर तो कठपुतली के लिए बहुत कुछ कर गये हैं। उन्होंने इस कला के उन्नयन के लिए अपना काफी योगदान दिया था। उन्होंने अपने शिष्यों के द्वारा ही इस कला को विदेशों में जाकर परिचित करवाया। परिचित करवाने तक ही श्री सांभर सीमित नहीं रहे अपितु इसका प्रशिक्षण भी उन्होंने दिया।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

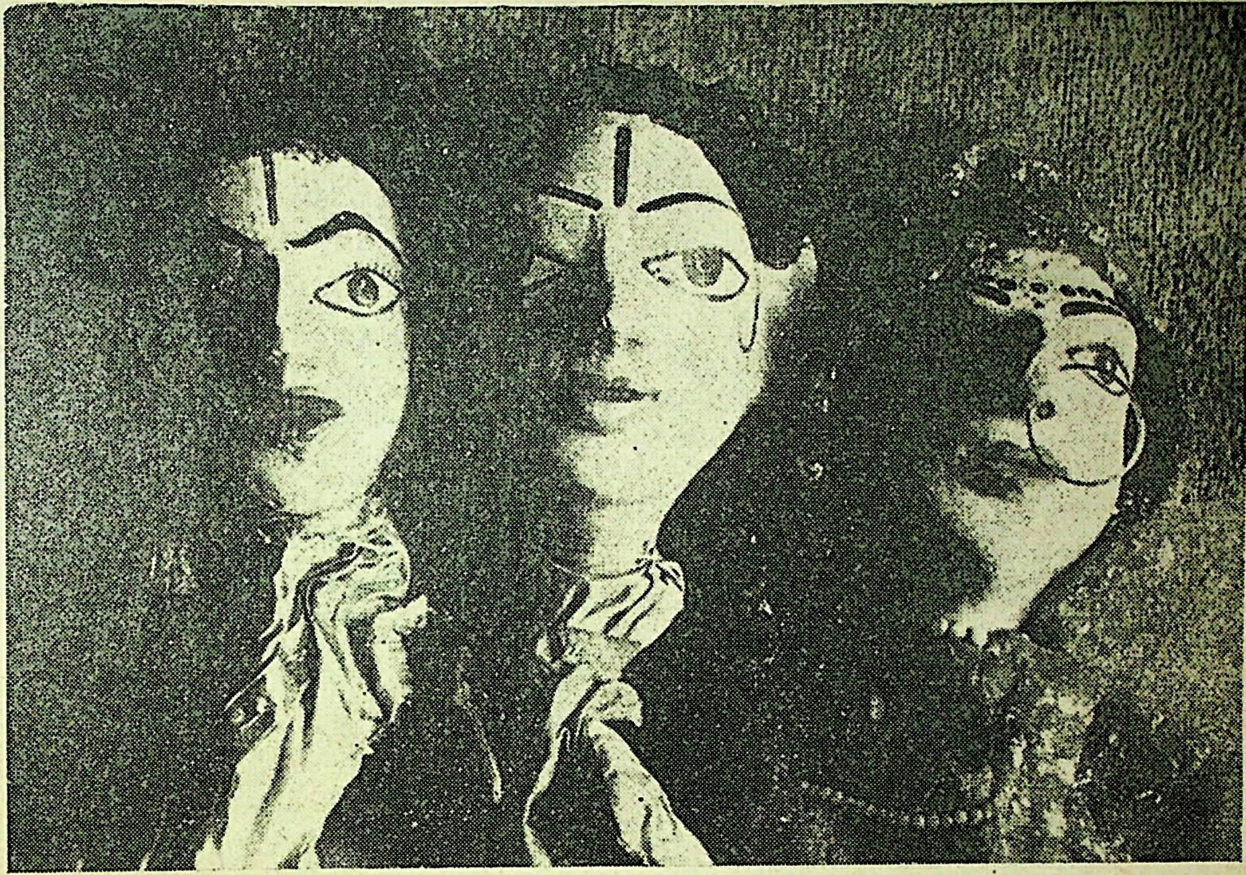

बड़ा लुभावना संसार है कठपुतलियों का। देश में व्याप्त मनोरंजन के दूसरे साधनों में दर्शकों की सीमति भागीदारी ही हो पाती है लेकिन कठपुतली के खेल में यह सीमा नहीं होती। कठपुतली को लेकर एक धारणा है, वह यह कि बच्चों के कोमल मस्तिष्क में किसी भी बात को गहराई से कठपुतली के माध्यम से बैठाया जा सकता है और वह भी बड़ी आसानी से। कठपुतली का खेल वातावरण या दर्शकों से किसी भी तरह के तामझाम की अपेक्षा नहीं करता। तीन छोटी खाटों तथा एक परदे की मदद से कठपुतली प्रदर्शन का व्यवस्थित मंच तैयार हो जाता है जो अनगिनत दर्शकों को आनन्द प्रदान करता है। कठपुतली प्रदर्शन में पुतली के हाथ, पैर, कमर, सिर तथा दूसरे अंगों पर धागों का नियन्त्रण रहता है जो कठपुतली कलाकार के नियंत्रण में रहते हैं। वह अपनी अंगुलियों की कुशलता से जिस खूबसूरती के साथ उन्हें नचाता है तथा बदली हुई आवाज से हावभाव व्यक्त करता है वह दर्शकों में कौतुहल उत्पन्न करता है। परदे पर कठपुतली होती है और परदे के पीछे उन पर नियंत्रण रखने वाले कलाकार। यह कलाकार हमारे आपके जैसा दो हाथों वाला ही होता है फिर भी चार पांच कठपुतलियों पर एक साथ नियंत्रण रखता है। सहायक के रूप में कलाकार की पत्नी या भाई बन्धु होते हैं जो ढोलक आदि बजाते हैं और गीत भी गाते हैं तथा कभी-कभी संवाद भी बोलते हैं। कठपुतली प्रदर्शन में गीत संगीत और आवाज का बराबरी का हक रहता है। जो दर्शकों की मानसिकता में जीवंत प्रस्तुति अंकित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। पिपीहरी तो दर्शकों को उत्साहित करती है ही यह प्राचीन लोककला अपना तत्काल प्रभाव छोड़ने में सक्षम होती है।

कठपुतलियां भी अपने कौशल के अनुरूप विभिन्न प्रकार की होती हैं। जिस कठपुतली की अभी चर्चा की, वह धागे वाली कठपुतली कहलाती है। वह धागों के द्वारा नियंत्रित होती है और हावभाव प्रदर्शन करती है। इसके अलावा कठपुतलियां प्रमुखतया दस्ताने वाली, छाया वाली तथा छड़ वाली होती है। इन तीन प्रकार की दूसरी कठपुतलियों में दस्ताने वाली कठपुतलियां चलन में ज्यादा हैं। दस्ताने वाली पुतलियों में काफी विकास और नये प्रयोग हो गये हैं। धागे वाली कठपुतलियों के कलाकार ज्यादातर राजस्थानी अंचल के अप्रशिक्षित तथा कम पढ़े-लिखे लोग ही होते हैं इसलिए यह कला यथोचित ऊँचाई पाने में असमर्थ रही है वहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दस्ताने वाली कठपुतलियों में प्रदर्शन की गरज से देखा जाये तो काफी सुधार और प्रगति हुई है। इसे सीखने वाले और इसका प्रदर्शन करने वाले कलाकार शहरी सभ्यता से जुड़े हुए हैं। उनके द्वारा ही इस कला को अपने संवर्धन के लिए व्यापक बल मिला है। दस्ताने वाली कठपुतली से तात्पर्य हाथ में पहनकर हावभाव दर्शाने वाली पुतलियों से है। ये पुतलियां आधुनिक परिवेश में अपने आपको संतुलित करने में भी सफल हुई हैं। इनमें आकृति दस्ताने से जुड़ी होती है जिसे हाथ में पहनकर प्रदर्शित किया जाता है। धागे वाली कठपुतली के साथ अमरसिंह राठौर की गाथा एक लंबे समय से जुड़ी है। आज भी इस गाथा से धागे वाली कठपुतली न मुक्त हो सकी है और न ही इसे इस गाथा से अलग मौलिक खोज के के लिए कलाकार ही अनुकूल बना पाये। परिणामस्वरूप धागे वाली कठपुतलियों में आकर्षण होते हुए भी दस्ताने वाली कठपुतलियां ज्यादा व्यापक हो गयी हैं। दस्ताने वाली कठपुतलियों ने प्रचार माध्यमों तथा अपनी स्वपोषित कुशलताओं से प्रचार और लोकप्रियता दोनों ही हासिल की है। इसके अलावा एक प्रकार की कठपुतली छड़ वाली भी होती है। छड़ वाली कठपुतली धागे वाली और दस्ताने वाली कठपुतलियों से ज्यादा चलन में नहीं है। छड़ वाली कठपुतली के प्रदर्शन की प्रक्रिया भी कठिन होती है और इसको सरलतम और लोकप्रिय बनाने के विशेष उपाय भी नहीं किये गये। काफी कुछ यही परिस्थितियां छाया वाली कठपुतलियों के साथ भी निर्मित हुई है। छाया वाली कठपुतलियां भारत में ख्याति अर्जित नहीं कर सकीं अलबत्ता विदेशों में उन्होंने ख्याति पाई।

कठपुतलियों के कलाकारों में कला है। वे अपनी खूबियों से जनमानस के हृदय पटल पर अपना प्रभाव बखूबी अंकित कर सकते हैं वहीं स्वयं कठपुतलियां भी अपना स्वदायित्व सहज ही निभा डालती है। देखा जाये और महसूस किया जाये तो अनेकों कठिन परिस्थितियों और आपदाओं में कठपुतली की मदद ली जा सकती है। कठपुतलियों का महत्व कहीं समझा जाता है और कहीं नहीं भी समझा जाता। यहां थोड़ी देर के लिए अपने आपसे ही यह सवाल पूछा जाये कि यदि किसी व्यक्ति को बहुत पसंद करते हैं तो उसकी बात या समझाइश हम टालेंगे या मानेंगे? सहज रूप से इसका उत्तर होगा, मानेंगे। यही प्रश्न और यही उत्तर कठपुतली पर लागू किया जा सकता है। कठपुतली का खेल देखने वाले दर्शकों का वर्ग विशाल है। हमारे देश में, हमारे समाज में अनेकों समस्यायें और कुरीतियां विद्यमान हैं। ऐसी कुरीतियां और समस्यायें जो किसी समझाइश को योग्य नहीं समझतीं, कई बार कठपुतली के ज़रिये पूर्ण उपयोगिता के साथ प्रस्तुत होतीं हैं और दर्शक वर्ग को कुछ न कुछ सोचने पर अवश्य मजबूर कर देती हैं। यदि वास्तव में कठपुतली के द्वारा यह प्रभाव पड़ता है, यदि सचमुच कठपुतली सहज समझाइश की योग्यता रखती है तो वह हमारे लिए उपयोगी तो स्वाभाविक रूप

से हो ही जाती है अपितु भविष्य में भी विचार करने और प्रेरणा जगाने का भी दुष्कर कार्य कर डालती हैं।

प्रारम्भ में स्व० देवीलाल सांभर का जिक्र आया था। उन्होंने कठपुतली जगत में अपना बहुमूल्य योगदान जिस प्रकार दिया है तथा सक्रियतापूर्वक जो कार्य कठपुतली के उत्थान के लिए किये हैं, उसके लिये वे तमाम कठपुतली प्रदर्शकों में लंबे समय तक जाने जाते रहेंगे। उन्होंने ही कठपुतली में सम्प्रेषण देखा, उन्होंने ही कठपुतली में संभावनाएं देखीं। उन्होंने महसूस किया कि यह गहरी पैठ करने वाली कला है और इसलिए श्री सांभर कठपुतली के उत्थान और अनुसंधानों में जुटे। उन्होंने कठपुतली में दर्शकों की जिज्ञासाओं को महसूस किया। श्री सांभर ने कठपुतली को केन्द्रित करके अनेकों पुस्तकों की रचना भी की जो बड़ी महत्वपूर्ण समझी जातीं हैं। कठपुतली: परम्परा और प्रयोग, कठपुतली शिक्षण, राजस्थान के लोकानुरंजन, बच्चों के लिए पुतलियां, कठपुतली कल और शिक्षण आदि पुस्तकों में उन्होंने कठपुतली के प्रारम्भ से लेकर उसकी विविधताओं में डूबते उतरते हुये तमाम उम्मीदों और समझाइशों को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अंकित किया है। उन्होंने कठपुतलियों को दर्शक वर्ग की मानसिकता के अनुरूप निर्धारित किया ताकि कठपुतली और दर्शक दोनों ही एक दूसरे के साथ न्याय कर सके। दर्शकों के हित में कठपुतली का कहां तक उपयोग हो सकता है इसकी चिंता वे सदैव करते रहे। कठपुतली को श्री साँभर ने मानो दायित्वक व्यक्तित्व मान रखा था। देवीलाल साँभर ने विदेशों में कठपुतलियों की खूबियों को परिचित करवाया। अपने देश से ज्यादा विदेशों में कठपुतलियों की संप्रेषणीयता को आंका गया। उनकी गहन रुचि और उनके योगदान को देखकर ही दूसरे लोग भी शिष्य बनकर श्री सांभर से जुड़े। जो कठपुतली कला राजस्थान के कलाकारों तथा चंद कथानकों तक ही सीमित थी वह विस्तृत होती गई। कठपुतली में संभावनाओं को तब और आशान्वित होकर महसूस किया गया।

कठपुतली जनाकर्षण का केन्द्र इसलिए भी बनी क्योंकि उसमें दर्शकों से सीधा तारतम्य रखने की खूबी विद्यमान थी। कठपुतली नाटक नृत्य देखते समय दर्शक एक बात बिल्कुल बिसरा देता है कि इस बेजान पुतली को कलाकार हरकत दे रहा है। दर्शक को तो लगता है मानों सजीव होकर यह पात्र अन्तर्मन में पैठ करने का यत्न कर रहा है। दर्शकों को यह महसूस होना ही इस माध्यम की सबसे पहली और बड़ी सफलता है। दर्शक अपने और कठपुतली के मध्य सीधा सम्पर्क रखने लगता है, कठपुतली की यही सबसे बड़ी सार्थकता कही जायेगी। अपने हाव-भाव, अपने संतुलन और अपने चातुर्य के दम पर ही तो कठपुतली दर्शकों में कौतूहल पैदा करती है। दर्शक यही अपेक्षा कठपुतली से करता है। खासकर धागों वाली कठपुतली दूसरी अन्य प्रकार की कठपुतलियों से ज्यादा प्रभावात्मकता रखती है। हालांकि उससे बेहतर स्थिति में दस्ताने वाली कठपुतली है, क्योंकि उसे माध्यम अच्छे मिल गये हैं पर धागे वाली कठपुतली ज्यादा रोमांच, ज्यादा मनोरंजन और ज्यादा आकर्षण पैदा करती है। धागों वाली कठपुतली में परिपूर्ण वेषभूषा और स्थाई श्रृंगार उसकी खूबी के रूप में उपस्थित होता है। लकड़ी से बनाई गई ये कठपुतलियां स्थाई होती हैं। धागे वाली कठपुतली व्यक्ति को, दर्शक को, उसकी कमजोरी और खूबी को अपने में ही व्यक्त करती हैं इसलिए दर्शकों में अपना महत्व रखती है।

कठपुतली का खेल पहले अमर सिंह राठौर की गाथा तक ही सीमित था। अब यह बात नहीं है। कठपुतली कलाकारों ने इसमें अनेकों प्रयोग किये हैं और नये-नये खेल तैयार किये हैं। इसके अतिरिक्त कठपुतली में हाव-भाव की नवीनता भी खोजी गई है। अब तो आधुनिक संदर्भ में जनहित के लिए भी कई खेल तैयार किये हैं। कठपुतली प्रदर्शन करने वाले कलाकार व्यक्ति समाज और देशहित से जुड़े खेल वर्तमान में दिखाते हैं जिनमें सामाजिक बुराइयां और कुरीतियों को दूर करने का संकल्प दिखाई देता है।

वर्तमान में कठपुतलियों में संभावनायें एक संस्था ने भी कुछ वर्षों में देखीं। यह संस्था है राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान परिषद। बच्चों में संप्रेषण के प्रभावशाली माध्यम को परिषद ने कठपुतली के रूप में ही चुना। कठपुतली के माध्यम आसानी से कारगर और उपयोगी बात पहुँचाई जा सकती है इससे इंकार नहीं इसलिए संस्थान ने कठपुतली के द्वारा शिक्षा देने की योजना बनाई और उसका क्रियान्वयन भी किया। आज संस्थान के देश में फैले स्कूलों में कठपुतली का प्रभावी ढंग से शिक्षादायनी के रूप में उपयोग किया जा रहा है। इसके सुपरिणामों से उत्साहित होकर परिषद ने भोपाल स्थित संस्थान में जहां एक ओर लेखकों और कलाकारों का शिविर आयोजित किया वहीं बच्चों को कठपुतली बनाने व चलाने की शिक्षा दी। लेखकों-कलाकारों के इस शिविर में विचार विमर्श और तर्क-वितर्क के उपरांत जनसंख्या शिक्षा के उपयोगी नाटक तैयार किये गये तथा कलाकारों द्वारा उनका कठपुतली प्रदर्शन भी कराया गया। शैक्षिक अनुसंधान परिषद में यह योजना बड़ी कारगर सिद्ध हुई है। इसके जरिये छात्रों को जहां एक ओर स्वस्थ मानसिक खुराक मिलती है वहीं उनका मनोरंजन भी होता है। यहां दस्ताने वाली कठपुतलियां प्रयुक्त की जाती हैं।

कठपुतली हमारी संस्कृति का एक अहम हिस्सा है जिसे नकारा नहीं जा सकता। कठपुतली में संभावनायें विद्यमान है। वे कलाकार सम्मान के अधिकारी हैं जो पीढ़ियों से, बरसों से इस कला को निरन्तर जारी रखे हुए हैं और अपनी पुश्तैनी विरासत मानकर इसके साथ अपनी परम्परा को आगे बढ़ा रहे हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लोक साहित्य में सोना–रूपा

श्याम सुन्दर घोष

'सोना केर दियरा रूपा केर वाती' यह पंक्ति लोकगीतों में अक्सर आती है। इसका क्या अर्थ है ? जो इसका अर्थ यह लेते हैं कि दीप सोने का है और वाती रूपे की, मानना होगा कि वे लोक-साहित्य के मर्म से अच्छी तरह से परिचित नहीं हैं। दीप और बाती का वर्णन यह हो सकता है, लेकिन केवल इतना ही नहीं है। यह वास्तव में यह घर और घरिनी का वर्णन है। सोने का मतलब समृद्ध धन-धान्य से भरा घर और रूपा की बाती मतलब रूपवती गृहणी। यही इसका वास्तविक तात्पर्य है। लोक साहित्य इकहरा नहीं होता। ऊपर-ऊपर से अत्यन्त सरल-सहज पंक्तियाँ पर अपने में अर्थ का सागर छुपाये होती हैं। 'अर्थ अमित अरु आखर थोरे' उक्ति लोक-साहित्य पर भी उतनी ही लागू होती है जितनी कि श्रेष्ठ शिष्ट साहित्य पर।

घर और घरिनी पर लोक साहित्य में बहुत जोर है। क्यों न हो, आज भी भारत में 'घर' शब्द का जो अर्थ-बोध है वह किसी से छुपा नहीं है। जब आप किसी से कहते हैं बहुत दिनों से घर नहीं गया 'या' घर से बाहर रहते रहते जी उकता गया है तो यहां 'घर' शब्द मामूली शब्द नहीं है। वह अपने आप में अर्थ का अकूत पिटारा छिपाए हुए है। यह घर टूटा झोपड़ा हो, या फूस-फुआस का गँवई घर, या पक्का कोठा-दालान, सब इसमें समा जाता है और इसी में आ जुटते हैं नाना संबंध, बाल-बच्चे, लगुए-भगुए नौकर-चाकर सब। लेकिन सबके केन्द्र में कौन है ? गृहलक्ष्मी वह मां भी हो सकती है, पत्नी भी और दादी, फुफी, चाची कोई भी।

घरिनी का एक अर्थ तो पत्नी है और दूसरा अर्थ घर की मालकिन। वह घर वाली के अलावा भी कोई हो सकती है, नहीं भी हो सकती है। लेकिन जो है वही घर की शोभा है, केन्द्रीय तत्व है, दीप में बाती की तरह वही जलती है, मरती-खपती है, खटती-मिटती है, चिन्ता-फ़िकिर में घुलती-सुलगती है और वही घर के दीपक को उजियार भी करती रखती है सोलहों जतन से। इसलिए घर कहने से केवल घर का बोध नहीं होता, उस आत्मीय संबंध का बोध होता है जिससे हम बंधे लिपटे हैं। चाहे हम कहीं रहें, यह घर हमें नहीं छोड़ता, हम घर छोड़ भी दें, तो यह हमें नहीं छोड़ता, ठीक साधु वाली बात है जिसने धारा में बहते हुए भालू को कम्बल समझ कर पकड़ लिया और जब मालूम हुआ कि वह कम्बल नहीं कुछ और है, कम्बल की तरह उपकारक नहीं, बल्कि कहीं ज्यादा खतरनाक है, तो वह उसे छोड़ना चाहता है, पर अब भालू उसे नहीं छोड़ता क्योंकि पानी में बहते हुए भालू को भी किसी सहारे की जरूरत है। लोगों के चिल्लाने पर कि कम्बल छोड़ दो साधु कहता है—मैंने तो कम्बल छोड़ दिया है, अब कम्बल ही मुझे नहीं छोड़ता। यही दशा घर की है। काफी दिनों से गृह-त्याग किये हुये साधु वैरागी को भी घर का मोह-छोह सताता ही है और इसमें घर वाली का हिस्सा कुछ कम नहीं होता।

सोना–रूपा भारतीय साहित्य के बड़े व्यंजक शब्द हैं। चाहे शिष्ट साहित्य हो, या ग्राम साहित्य, सब जगह सोना-रूपा का किसी न किसी रूप में, जरूर प्रवेश है। प्रेमचन्द ने भी 'गोदान' में होरा की बेटियों के नाम सोना रूपा ही रखे हैं। क्यों है ऐसा ? लगता है भारत में गरीबी की जड़ें बहुत गहरी हैं। इसका इतिहास बहुत पुराना है। सोना रूपा के रूप में मानों गरीब भारतीय जनता की युग-युग की लालसा ही मूर्त और व्यक्त होती रही है।

सोना रूपा में एक ओर चमक और खनक तो है ही, वे श्री-समृद्धि के प्रतीक और पर्याय भी हैं। यदि हम लोक साहित्य के साथ-साथ शिष्ट साहित्य का भी अनुशीलन और सर्वेक्षण करें, तो पायेंगे कि कि साधारण ग्रामीण सन्दर्भ और औसत भारतीय जनता के जीवन-क्रम में सोना-रूपा का ही ज्यादा उल्लेख है। रतन, जवाहर, हीरा, पन्ना, मोती, लाल आदि का नहीं। ये भारतीय जनता की, बाद की आकांक्षा के प्रतीक हैं। उसकी पहली या प्रारम्भिक आकांक्षा तो सोना-रूपा तक ही सीमित है। चाहे सुगना के चोंच मढ़ाने की बात हो, या कौए के पैरों में पैंजनी बंधाने की लालसा हो, वह सोना-रूपा की ही बात करता है। लगता है भारतीय जनता बहुत संतोषी स्वभाव की है। ज्यादा की कामना-आकांक्षा न करना, थोड़े में संतोष कर लेना, शायद उसका स्वभाव है। इसीलिए उसकी कल्पना और कामना की दौड़ सोना-रूपा तक ही है। इसलिए लोक गीतों में, लोक साहित्य में, बार-बार सोना-रूपा ही आते हैं, अन्य बेशकीमती द्रव्यों-रत्नों का अधिक उल्लेख नहीं होता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चाहे प्रियतम के लिए 'जिमना' परोसने की बात हो, या अपने नन्हें-मुन्ने राजदुलारे के लिए दूध-भात-बताशा खिलाने की बात हो, लोक साहित्य में सोने–चांदी की थाली और कटोरा–कटोरी की बात ही कही गई है। कितना सीमित सुख-संतोष-प्रधान-दृष्टिकोण है। इसीलिए लोकगीतों में महल-अटारी की चर्चा भी बहुत कम है, हैं अधिकतर घर-द्वार ही, टूटी मड़ैया या झोपड़ियां हैं। लेकिन घर कहीं भी तुलसी चौरे, दीपक और घरिनी के बिना नहीं आता। जलते दीपक को आँचल ओट किये, हवा के झकोरों से बचाते हुए, तुलसी चौरा की ओर आती–जाती हुई, या उसके सामने खड़ी ध्यान मग्ना भारतीय गृहिणी की तस्वीर लोक-साहित्य में खूब-खूब उजागर है।

और तो और, आदिवासी लोकगीतों में भी सोना रूपां का खूब उल्लेख है। एक संताली लोकगीत की पंक्तियाँ हैं—

नायोय दुड़ुप् आकान सोना गाण्डो रे
बाबाय दुड़ुप् आकान सोना माची रे

मां सोने के पीढ़े पर बैठी है
पिता सोने की मचिया पर बैठे हैं

कुछ और पंक्तियाँ लें—

नाते भा लोलो कान जांगाञ लोक कान
सेरमा सेतोड़ कान होड़मोञ लोक कान
किरियालाञ सारी सोनेर छातार
नुल वेले होड़मोञ नुमुल तिञ

धरती तपी हुई है। पैर जलता है।
आकाश से धूप बरस रही है। मेरा शरीर जलता है
प्रियतम सोने का छाता खरीदें
पके आम के समान देह को मैं छाया दूंगी

यहाँ सोने का पीढ़ा, मचिया और छाता बताते हैं कि लोक मानस में सोने के लिये कैसी कामना और लालसा है।

एक ओर तो सोने और समृद्धि की यह कामना और कल्पना तथा दूसरी ओर गृहिणी को न भुलाना, कहिये कि उसके बिना घर की कल्पना तक न करना, घरिनी के बिना घर को श्रीहीन मानना (बिन घरनी घर सून) आदिवासी लोकगीतों में भी हम अक्सर पाते हैं। एक संताली लोकगीत की कुछ पंक्तियाँ लीजिए—

बुरू रे सारजोम
साकामेना मेनखान नापाय मेलोक
ओडाक् रे दुआर, दुआर रे कापाट
घिरनी बाड. खान दो साजाव बानुक

पर्वत पर शाल के वृक्ष
पत्ते रहने पर सुन्दर दिखाई देते हैं
घर में दरवाजे और दरवाजे में किवाड़
गृहिणी नहीं तो इसकी शोभा नहीं

ऐसे कुछ उदाहरणों से स्पष्ट है कि लोक साहित्य में सोना रूपा के साथ गृहिणी भी हर जगह लगी हुई है। क्यों न हो गृहिणी के बिना घर की श्री-समृद्धि की कल्पना नहीं की जा सकती। लोक साहित्य में गृहिणी को ही 'धनी' भी कहा गया है। एक धन तो वह खुद है, भौतिक धन द्रव्यादि का स्थान तो उसके बाद ही आता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बुन्देलखण्ड की फागें

ललित मोहन

नर्मदा, चम्बल, बेतवा और टौंस नदी से घिरा भू-भाग जिसमें मध्यप्रदेश का सागर संभाग एवं उत्तरप्रदेश का झांसी मण्डल और आस पास का क्षेत्र आता है बुन्देलखण्ड के नाम से जाना जाता है। कला एवं संस्कृति के धनी बुन्देलखण्ड में होली के आगमन की सूचना देती हैं यहाँ की पारम्परिक फागें। बसन्त के आगमन के साथ ही फाल्गुन मास में होली के अवसर पर गाये जाने के कारण ही इन्हें फाग या होरी कहते हैं। ढोलक, मृदंग, नगड़िया, झींका और मंजीरा जैसे लोकवाद्य जब एक स्वर में बज उठते हैं तब फाग गायक और इनका नृत्य देखते ही बनता है, होलिका दहन से लेकर रंगपंचमी तक सारे बुन्देलखण्ड में फाग गायकी अपनी चरम सीमा पर होती है। होली के अवसर पर अश्लील गायन की स्वतन्त्रता तो होती ही है साथ ही छेड़छाड़, प्रेम प्रसंग, श्रृंगारिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक विषयों से संबंधित फागें भी गाई जाती हैं। फागों या होरी की विभिन्न धुनों, लयकारी, गायकी एवं विषयों के कारण इन्हें अलग-अलग नामों से जाना जाता है। जैसे–सखयाऊ फाग, छन्दयाऊ फाग, डिढ़खुरयाऊ फाग, चौकड़िया फाग, झगड़े की फाग, मनौअल की फाग, टहूका की फाग, सुमरनी की फाग आदि, इनके अलावा होरी, रसिया, स्वांग, ख्याल, कहरवा भी होली के अवसर पर गाये जाते हैं। इसी समय यहाँ के प्रसिद्ध राई नृत्य की धूम गाँव–गाँव में होती है जिसमें सभी प्रकार की फागें, स्वांग, ख्याल गाते हैं। ग्रामीण लोक कलाकार सर्वप्रथम सुमरनि गाते हैं इसमें देवी देवताओं को याद करते हैं इसीलिए इसे सुमरनि की फाग भी कहते हैं।

पेले तो सुमरले माता शारदा हाँ ऽ ऽ
मैया, पेले तो सुमरले माता शारदा हाँ ऽ ऽ

इसके बाद मनमर्जी की गायकी होती रहती है गायकों के दो दल बना दिये जाते हैं कोई एक गायक गीत विलंबित लय में आरम्भ करता है तत्पश्चात दोनों दल क्रमशः उसी पंक्ति को दुहराते हैं, अत्यन्त द्रुत लय में पहुँचकर तोड़ के साथ समाप्त करते हैं यह क्रम सारी-सारी रात चलता रहता है, रात के सन्नाटे में मृदंग व नगड़िया की मधुर आवाज मीलों दूर सुनाई देती है जिसे सुनकर शौकिया लोग उस स्थान पर पहुँच जाते हैं।

सखयाऊ फाग में पहले साखें गाते हैं पुनः फाग—

नई गोरी, नये बालमा, नई होरी की झांक
ऐसी होरी दागियो तोरे कुल न आवे आंच
समर के यारी करो रे मोरे बालमा—

नई गोरी अपने बालम से कहती है कि मुझ पर इस ढंग से रंग डालना कि मेरी बदनामी न हो।

छन्दयाऊ फाग में पहले टेक गाते हैं फिर छन्द और अन्त में पुनः टेक गाते हैं। इसमें आध्यात्मिक व धार्मिक प्रसंग मुख्यतः होते हैं—

राजा बलि के द्वारे मची होरी
कौन के हांत रंग की गगरिया
कौना के हांत अबीर झोली
राम के हांत रंग की गगरिया
लछमन के हांत अबीर झोली
राजा बलि के द्वारे मची होरी

डिढ़खुरयाऊ फाग को राई नृत्य में अधिक गाते हैं विलंबित लय से अचानक द्रुत लय आरम्भ होती है एक ही पंक्ति अनेक बार दुहराते हैं—

अरे मिरगा रे मारन गये राम
जो लो रे जानकी हर लई हां ऽ ऽ

सहज बुन्देली में कितना सुन्दर प्रसंग है जिस समय राम मृग मारने गए उतने ही समय में सीता हरण कर लिया गया। बुन्देलखण्ड में ईसुरी, गंगाधर, ख्यालीराम आदि लोककवियों की चौकड़िया फागें प्रचलित हैं, चार कड़ी बराबर मात्रा की होने से इन्हें चौकड़िया कहा गया। इनमें प्रेम प्रसंग, श्रृंगार एवं उपदेशात्मक बातें होती हैं। ईसुरी रचित चौकड़िया में प्रेमी का शरीर प्रेम के खटके में सूखकर छुहारे जैसा हो गया है, शरीर में न रक्त बचा न ही मांस—

जो तन हो गयो सूक छुहारो, ऊंसई हतो इकारो।
रे गई खाल हाड़ के ऊपर, मकरी कैंसो जारो॥
तन भओ बांस, बांस भओ पिंजरा, रकत रओ न सारो।
केत ईसुरी सुन लो प्यारी, खटका लगो तुमारो॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसी तरह झगड़े की फाग में झगड़े का प्रसंग, मनौअल की फाग में किसी को मनाने का प्रसंग, टहका की फाग में किसी कार्य का प्रसंग होता है। यहां प्रस्तुत है बुन्देली होरी—

सिर बांधे मुकुट खेलें होरी, सिर बांधे मुकुट खेलें होरी
पेली होरी त्रेता जुग में खेली, राम सिया जू की भई जोरी
दूजी होरी द्वापर जुग में खेली, राधा किसन का भई जोरी
तीजी होरी काशी जू में खेली, शिव गौरा की है जोरी
सिर बांधे मुकुट खेलें होरी.......

रसिया मूलतः ब्रज क्षेत्र में गाते हैं लेकिन ब्रज से लगे बुन्देली क्षेत्र में भी रसिया, पारम्परिक मोहक धुनों में सुनने को मिलता है—

आई बिरज में होरी रे रसिया
बाजत ढोल, मृदंग, झांझ, ढप
और मंजीरन जोरी रे रसिया
आई बिरज में होरी रे रसिया

द्रुत लय में बजते कहरवा ताल में निबद्ध गान को कहरवा कहते हैं कहीं कहीं इसे कहारों का गीत भी कहते हैं इसमें प्रेम प्रसंग, छेड़छाड़ एवं श्रृंगार रस प्रधान होता है, इसी तरह ख्याल का अर्थ मन में उठते विचारों या ख्यालों से है इसकी धुन व प्रस्तुति आकर्षक होती है— दो दो से लागी नजरिया,! तुमारी पीरी पर गई गुईयां ॥

कैसी सटीक बात है दो दो पत्नी वाले पुरुष का चेहरा पीला पड़ जाता है। एक और ख्याल, जिसमें पत्नी, पति से कह रही है कि तुमने मुझे जोगन बना दिया और खुद भी बाबा बन गये——

हमखों बना दई जोगनियां, अपन मोनी बाबा हो गये
अरे कोना मास में बाबा हो गये, कोना ओड़ी भभूत
अरे माघ मास में बाबा हो गये, फागुन ओड़ी भभूत—

वैसे तो स्वांग—नकल करने को कहते हैं जिसमें स्वांगिये कोई किस्सा सुनाते हैं फिर स्वांग गाते हैं। बुन्देलखण्ड में स्वांग गांव तो क्या शहरों में भी अक्सर सुनने को मिल जाते हैं यहां की बारातों में स्वांग की धुन पर नृत्य करना आम बात हो गई है। ऐसा जादू है इन लोक धुनों में कि कोई भी थिरकने लगता है द्विअर्थी संवाद, छेड़छाड़ और प्रेम प्रसगों की भरमार होती है स्वांग में, धुड़ेली के दिन तो हर कोई मस्ती में स्वांग गाता और नाचता दिखाई देता है।

राधे हो रईं हैं लाल, जबसे हरी ने रंग डारे॥

एक और स्वांग जिसमें नारी के नैनों की मार को बन्दूक की मार से भी अधिक खतरनाक बताया है——

गोरी नैना ने मार, भरके दुनाली चाय मार दे॥

बुन्देलखण्ड में फागों की बहार, उनकी लय, ताल प्रस्तुति, उन्माद और मस्ती का अनुभव उसके लोक संगीत के बगैर नहीं लिया जा सकता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बहस

संस्कृति से साक्षात्कार और नयी सभ्यता

डॉ. जीवनसिंह

डॉ. प्रेमलता शर्मा ने "चौमासा" के पन्द्रहवें अंक में 'सर्जनात्मक सहभागिता की हानि' शीर्षक लेख में, उन समस्याओं से हमारा साक्षात्कार कराया है, जो संस्कृति के अंचल में संकट के बीज बो रही हैं। उनका यह विचार बहुत सही है कि "हम भयंकर विरोधाभास में जी रहे हैं। इस देश के विभिन्न क्षेत्रों के संगीत, नृत्य, नाट्य, शिल्प, चित्र, साहित्य आदि के बारे में जानने की अभूतपूर्व सुविधायें एक ओर हमें उपलब्ध हैं और दूसरी ओर भीतर से हम एक दूसरे से इतने अलग हो गये हैं, जितने कि कभी नहीं थे। हमारी नई पीढ़ी अपनी संस्कृति से कटती जा रही है, उसे बेगाना समझ रही है, यद्यपि संस्कृति को लेकर इतना शोर-शराबा है।"

हमारे वर्तमान का एक बिम्ब यह है। एक दूसरा बिम्ब भी। नए प्रसार माध्यमों के अभ्युदय और विस्तार की वजह से हमारी पारम्परिक आंचलिक संस्कृति को अभिव्यक्ति का एक नया अवसर सुलभ हुआ है, आंचलिक पारस्परिकता बढ़ी है, जो सीखने की प्रेरणा बनती है। खेतों के बीच पलने वाली, जंगलों को जीवन देने वाली संस्कृति, जो पहले पांच-दस कोस की सीमा को ही छू पाती थी, अब उसका रूप प्रांतीय, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय हो गया है। हमें यह भी पता चला है कि संस्कृति का एक सूत्र, पूरे देश की प्रकृति को किस तरह सदियों से एक बनाए हुए है। राम और कृष्ण के चरित्रों ने एकसूत्रता और विविधता को किस तरह कायम रखा है, सृजन की कितनी संभावनाएं इन महागाथाओं में रही हैं, यह एक रूप में हमारे समक्ष आया है। कहने का मतलब यह है कि भारत के नए आदमी की जानकारी में बहुत विस्तार हुआ है। वह अचम्भे में है कि कितना विविध और संस्कृति–सम्पन्न रहा है उसका देश, और सांस्कृतिक रूप से कितना एकसूत्रमय। यद्यपि, राजनीति में बिल्कुल विपरीत स्थिति है। हमारे गांवों की स्वतः संपूर्ण और प्राकृतिक अर्थ व्यवस्था ने जहां एक ओर लम्बे ठहराव को जन्म दिया है, वहीं दूसरी ओर संस्कृति के विविध लोकरूपों को पनपाया है तथा राजनीति से उदासीन बनाया है। इस वजह से 'कोउ नृप होउ हमहिं का हानी' उसके जीवन का मूल मंत्र बना रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वतंत्रता के बाद, जब संपूर्ण देश के जीवन में नई परिस्थितियां पैदा हुई, तो सभी जगह एक घालमेल भी कायम हुआ। हमारे भावी जीवन की मूल प्रस्थापनाएं क्या होंगी, इसकी ओर महात्मा गांधी ने सभी का ध्यान आकर्षित किया था और पंडित जवाहरलाल नेहरू ने पूरी दुनिया के संदर्भ को उद्घाटित करते हुए, जीवन के नये स्रोत तलाश किए थे, लेकिन आगे चलकर एक ऐसा भटकाव पैदा हुआ कि हमारी संस्कृति का 'लोक' केवल वोट का 'लोक' बनकर रह गया। जो नई राजनीति चली, उसकी नजर, लोक से ज्यादा उसके भीतर छिपे 'वोट' पर रही। इन परिस्थितियों से संस्कृति का लोक कैसे अप्रभावित रह सकता था।

डॉ. प्रेमलता शर्मा ने अपने पूरे लेख में संस्कृति के संकट से हमारा साक्षात्कार कराया है लेकिन यह बिल्कुल वैसा ही है कि जैसे कोई चोर की चोरी को तो बताए, पर उसकी मां की ओर उंगली तक न उठाए। इस संदर्भ में मुझे उस लोकोक्ति का ध्यान आता है, जिसमें कहा गया है कि 'चोर को क्या, चोर की मां को मारे, जो चोर जन्ते (प्रजनन) ही बन्द कर दे।' डॉ शर्मा के लेख में 'चोर' का जितना जिक्र हुआ है, उतना चोर की मां का नहीं। इससे गलत निष्कर्ष निकलने का खतरा रहता है। मसलन डॉ शर्मा यह मानती हैं कि 'हमारा विशाल जनसमूह, व्यापक नगरीकरण के कारण अपनी संस्कृति की धरती से उखड़ जाता है।' उनके ही शब्दों में "इस चित्र को व्यापक नगरीकरण की पृष्ठभूमि में रखकर देखना होगा, जिसके कारण विशाल जनसमूह अपनी संस्कृति की धरती से उखड़ जाते हैं। सूक्ष्म शोषण और स्थूल व्यवसायीकरण की शक्तियों द्वारा, गांव पर जो हो रहा है, उससे उत्पन्न प्रदूषण को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।" समस्याओं को इस रूप में देखने का परिप्रेक्ष्य, नगर और गांव को द्वन्द्व रूप में देखने की दृष्टि, बहुत लोगों की है। लेकिन क्या संस्कृति का संबंध विकास और परिवर्तन के नए आयामों से नहीं होता? क्या संस्कृति किसी एक समय में निर्मित 'ताजमहल' की तरह होती है, जो आगे की पीढ़ियों के लिए केवल दर्शन की वस्तु हो या उसकी प्रकृति में भी वैसी ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विकासशीलता निहित होती है, जैसी कि हमारे जीवन में ? क्या पारम्परिक संस्कृति के लिए, प्राचीन संगीत, नाट्यरूप, चित्र और साहित्य के लिए, सभ्यता की नई मंजिल के सृजन को रोक दिया जाय ? या अपनी विरासत को सहेजते हुए संस्कृति और सभ्यता की नई मंजिल भी साथ-साथ तय की जाय। कहना न होगा कि नगरीकरण नयी सभ्यता की देन है ? उस नई औद्योगिक एवं प्रौद्योगिक सभ्यता ने नगरीकरण को जन्म दिया है, जो मध्यकालीन आदमी के लिए सपने की तरह था। यह तथ्य तो सर्वविदित है ही हमारे पारम्परिक लोकरूप कृषि-जीवन की देन हैं, तो क्या नगरीकरण को कारण मानकर कृषि-जीवन की उसी अवस्था को सुरक्षित और संरक्षित किया जाय, जो एक गाँव को स्वत.सम्पूर्णता में, प्राकृतिक अर्थव्यवस्था के अनुरूप एक संकीर्ण परिधि में बनाए रखती थी और चातुर्वर्ण्य के आधार पर पूरे गांव का मानसिक और शारीरिक विभाजन करते हुए एक ऐसी सम्बन्ध-व्यवस्था को बनाए रखती थी, जिसमें सब कुछ नियति के भरोसे चलता था। यदि हम नगरीकरण को अपनी संस्कृति की धरती से उखड़ने का कारण बतलायेंगे, तो यही होगा। मेरा विचार तो यह है कि आज दुनिया की यात्रा, जिस पड़ाव पर आ पहुँची है, उस पर आकर नगरीकरण को रोकने का मतलब होगा–नदी के धारा-प्रवाह को रोकना। मनुष्य जीवन भी नदी की धारा की तरह ही तो है, जो अनेक अवरोधों को पार करता हुआ अपनी यात्रा में संलग्न रहता है। मानव सभ्यता के इतिहास से उसकी इस विशेषता का पता चलता है कि वह अपनी पुरानी सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित रखते हुए, नए सांस्कृतिक रूपों का भी सृजन करती चलती है। सभ्यता का हर अगला पड़ाव, जहां एक ओर संस्कृति के वितान के नीचे रचा जाता है, वहीं सभ्यता का नया आधार अपनी संस्कृति को भी सृजित करता है। परम्परा के विकास का क्रम यही है। यदि ऐसा नहीं हुआ होता तो हमारे जीवन में मिथकीय सभ्यता से उत्पन्न संस्कृति के सहस्रवर्षीय विविध रूप आज जीवित नहीं होते। दरअसल, हमारे वर्तमान के समक्ष यह चुनौती है कि उसकी संस्कृति का अतीत भी संरक्षित रहे तथा भविष्य के रूप में उसका परिवर्धन और परिशोधन भी हो। संस्कृति, मनुष्य की भविष्य यात्रा में अवरोधक नहीं होती। अतः धरती से उखड़ने का खतरा नगरीकरण से न होकर हमारे नगरों, और गांवों में पनपने वाली उन पूंजीवादी विकृतियों से है, जिसमें आदमी की सस्कृति तो क्या, स्वयं आदमी का ही मोल-भाव तय कर दिया जाता है। जिस सभ्यता में आदमी अपने श्रम को रोज बेचता हो और उसे क्रय किया जाता हो, वहां संस्कृति-रूप खरीद-बिक्री की वस्तु नहीं बनेंगे, यह कैसे सम्भव है ? अपना मोल-भाव तय कराने के लिए उसे उसी मण्डी में आना पड़ेगा, जिसमें उसका अनाज खरीदा-बेचा जाता है, जिसमें उसके घी-दूध का मोल-भाव होता है, जिसमें उसके शरीर की बोली लगाई जाती है। जो लोग इंसान, इंसानियत और उसकी संस्कृति के लिए नगरीकरण, मशीन, विज्ञान, प्रौद्योगिक, औद्योगिक सभ्यता, प्रसार-माध्यमों आदि को खतरे के रूप में देखते हैं, वे चोर को तो देखते हैं, चोर की मां को नहीं देख पाते, जो एक चोर के बाद दूसरा चोर पैदा करती चली जाती है।

हमें इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि नगरीकरण ने मानव सभ्यता के नए द्वार खोले हैं। आज गांव के हर नागरिक तक की यही प्रवृत्ति हो गई है कि वह नगर की तरह जीवन जिए। इसके लिए हमें ग्राम्यत्व की अच्छाइयों से, नागरिकता की अच्छाइयों को जोड़ना होगा। स्पष्ट है कि यदि हमारी, लोक-जीवन के यथार्थ के प्रति समझ साफ है, हमारे भीतर का उच्च होने का अहंकार नष्ट-प्राय है, हमारी विभाजन करके राज करने की नीयत बदल गयी है, उत्पादन के साधनों पर एक व्यक्ति या संस्था का स्वामित्व न होकर सामाजिक स्वामित्व स्थापित हो गया है अर्थात् उत्पादन के छल-प्रपंच से भरे तौर-तरीके बदल गए हैं तो नगर, मशीन, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, औद्योगिक सभ्यता आदि हमारे संस्कृति-रूपों के विकास को एक नई मंजिल तक पहुँचाने में, उसकी प्रभविष्णुता को बढ़ाने में सहायक होते हैं। हमें इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि आज इन नवीन साधनों की वजह से हमारो सम्बन्ध-भावना का विस्तार हुआ है। एक ओर सारी दुनिया एक दूसरे के समीप आई है, दूसरी ओर हमारी भीतरी दुनिया का विस्तार हुआ है। उसकी संकीर्णता की प्राचीरें टूटी हैं। अतः विशाल जनसमूह का अपनी संस्कृति की धरती से उखड़ने का कारण नगरीकरण न होकर वह महाजनी सभ्यता है, जिसका एकमात्र उद्देश्य पूंजी की सत्ता को स्थापित करना होता है और इसी क्रम में वह इन्सानियत तथा संस्कृति की सत्ता को उसकी धरती से उखाड़ने का जाल रचती रहती है।

दूसरी बात यह है कि डॉ० शर्मा ने अपनी विवेचना में नगर और गाँव के द्वन्द्व की बात को इस तरह मन में जमा लिया है कि उन्हें सारा संघर्ष नगर और गाँव का संघर्ष लगने लगता है। उनका सूत्र बनता है कि गाँव तो संस्कृति के रचयिता हैं, जन्मदाता हैं, और नगर उसके संहारकर्ता हैं। यह सच है कि नगरों की तुलना में आज गाँव का शोषण हो रहा है। यह भी सच है कि 'नगर और गाँव के बीच जो खाई बढ़ रही है वह भी कम घातक नहीं हैं।' किन्तु क्या इस शोषण' और खाई को बढ़ाने के लिए नगर-जीवन या नगरीकरण जिम्मेदार है या महाजनी सभ्यता। क्या नगर-जीवन का यथार्थ, एक शोषक का यथार्थ है या नगर-जीवन का अधिकांश, उन निम्न मध्यवर्गीय सरकारी नौकरों-कर्मचारियों, मध्यवर्गीय अध्यापक-वकीलों-छोटे दुकानदारों–व्यापारियों, और शोषित मजदूरों का हिस्सा नहीं होता ? कहने की आवश्यकता नहीं कि यह संघर्ष

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नगर और गाँव का संघर्ष न होकर उस जीवन-पद्धति का संघर्ष है, जो नगर में भी उतनी प्रभावी है, जितनी कि गाँव में। जो उन्नीस-बीस का फर्क है, वह सम्बन्ध-भावना का नहीं अपितु उत्पादन-स्थितियों का है। इसी का परिणाम है कि जिन संस्कृति-रूपों को गांवों ने जन्म दिया था, अब वहां भी उनके जीवन का संकट उपस्थित हो गया है। उत्पादन-सम्बन्धों के बदलने से नई परिस्थितियों का निर्माण गांवों में भी हुआ है। यह मानना ठीक नहीं होगा कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद गांवों के उप्पादन सम्बन्ध वहीं हैं, जो उपनिवेश-काल में थे, भले ही आज भी हमारे देश के गांवों का प्रमुख उत्पादन-आधार कृषि है।

लेखिका ने जिस यथार्थ को नगर और गांव के बीच खाई बढ़ने के रूप में देखा है, वह नगर के भीतर कम भयावह नहीं है। नगरों में भी एक तरफ अट्टालिकाएं हैं' पॉश कॉलोनियां हैं, विलास के अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिमानों को मात देने वाले सितारावन्द होटल हैं और दूसरी तरफ जिंदगी और मौत दोनों का मजाक उड़ाती हुई मजबूर-बस्तियां हैं, झुग्गी-झोपड़ियां हैं। कहने का मतलब यह है खोट और कहीं हैं, जो सीधी और सहज सचाई के रूप में समझ में नहीं आता। ऊपर-ऊपर से देखने पर सचाई छिपी रह जाती है। हमें उसी को उद्घाटित करना होगा। दरअसल, हम एक ऐसे अन्तर्विरोध से गुजर रहे हैं, जिसमें सभ्यता का विकास हो रहा है, लेकिन उसी अनुपात में संस्कृति की रचना नहीं हो पा रही है। एक बड़ा सांस्कृतिक गतिरोधहै, जो वर्तमान महाजनी सभ्यता और निजी उत्पादन संबंधों की देन है।

इसके अलावा डॉ० शर्मा ने हमारा ध्यान 'खण्डित दृष्टि के अभिशाप,' 'यांत्रिक उपकरणों के द्वारा श्रव्य और दृश्य के परिरक्षण, पुनः प्रस्तुति और प्रसारण के अविवेक पूर्ण उपयोग' तथा 'प्रयोग में सहभागिता अथवा दृश्यकलाओं या शिल्पों में सर्जनात्मक सहभागिता को भी भारी हानि' की ओर विशेष रूप से आकर्षित किया है। यह सब तो ठीक है, लेकिन हमें इस बीमारी के निदान के साथ-साथ उसके कारणों को भी तलाशना होगा। लेखिका ने इन कारणों का बीच-बीच में उल्लेख किया भी है और वे कारणों की तलाश करती हुई, नगरों-उपनगरों और महानगरों के जीवन को इसका दोषी करार देती हैं या फिर यंत्रों-उपकरणों को। जैसे: "विवाह एवं अन्य सामाजिक प्रसंगों में पहले स्त्रियां स्वयं गातीं थीं किन्तु अब ग्रामोफोन, रिकार्ड या कभी कैसेट भी ध्वनि विस्तारक यंत्रों पर बजा दिए जाते हैं और बहुधा उनका उस प्रसंग से कोई सम्बन्ध भी नहीं होता। नगरों और उपनगरों में से तो गायन की सहभागिता प्रायः समाप्त हो चुकी है।" इसी तरह एक अन्य प्रसंग में वे कहती हैं: प्रयोगात्मक कलाओं के प्रसंग में उनके सहज वातावरण में से उन्होंने उठाकर महानगरों के कृत्रिम तथा मूल से विच्छिन्न वातावरण में उनकी प्रस्तुति के बड़े गहरे और सूक्ष्म परिणाम प्रयोक्ता पर होते हैं।" इससे लगता है, जैसे गांवों में तो सब कुछ ठीक है-'अहा! ग्राम-जीवन भी क्या है क्यों न इसे सबका मन चाहे।' दरअसल, स्थिति यह है कि गांव के जीवन का यथार्थ भी बदल रहा है। यदि उसमें बदलाव नहीं होता तो संस्कृति के जिन लोकरूपों के बारे में 'सर्जनात्मक सहभागिता की हानि' का सवाल उठाया गया है, वह उठता ही नहीं। आज संस्कृति के जितने भी लोकरूप जीवित हैं, वे पहले भी निष्क्रिय उच्चवर्ग के बल पर जीवित और रचित नहीं थे। उस समय भी उनका सृजन और विकास देश के श्रमशील किसान-कारीगर और दस्तकार वर्ग ने किया था। अतः यह सोचना गलत होगा कि यह संकट वर्तमान का ही है। अतीत में भी कलाओं का प्रणेता मेहनतकश वर्ग ही रहा है। आज भी वही है। हां, आज इतना अवश्य है कि जो नए सम्बन्ध बने हैं वे देश के सारे जीवन में अलगाव, अजनबीपन और संवेदन हीनता को जन्म दे रहे हैं, और सहज जीवन की लालसा, सक्रियता, सामूहिकता, सचाई, और साधारणता से जन्मी असाधारणता को समाप्त करने में लगे हैं। उद्योग धंधों में लगे मजदूरों और छोटा-मोटी नौकरी करने वाले लोगों के जीवन की सामूहिकता से जिन नये मूल्यों का निर्माण होना चाहिए था, वह नहीं हो पा रहा है। कृषि-अवस्था की सामूहिकता का विकास, औद्योगिक अवस्था की सामूहिकता में होता है किन्तु इन दोनों के बीच में अनावश्यक दखल देने वाले निजी स्वामित्व के सम्बन्ध उस सामूहिकता पर घातक प्रहार करते रहते हैं। चातुर्वर्ण्य, और विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों में पहले से विभक्त, हमारे समाज में मजदूर वर्ग की सामूहिकता, और संघबद्धता को तोड़ना बहुत आसान होता है। अतः यह कहना भारतीय संस्कृति में "प्रयोग" के सभी स्तरों और सभी रूपों में श्रोता या दर्शक की विशिष्ट भागीदारी होती रही है, किन्तु उसकी यह भूमिका सर्वथा नष्ट हो गयी है, क्योंकि व्यापक प्रसार माध्यमों में प्रयोक्ता अज्ञात, और अनुपस्थित तथा उसी कारण निष्क्रिय श्रोता व प्रेक्षक के लिए प्रयोग करता है।'-ठीक नहीं है। प्रसार-माध्यमों की अपनी प्रकृति है, उसे उपयोग करने वाला, यदि लोकहृदय का पारखी है, उसके पास जीवन को समग्रता में समझने की वैज्ञानिक दृष्टि है, तो वह श्रोताओं की अनुपस्थिति (भौतिक अनुपस्थिति) को मानसिक उपस्थिति में बदल लेता है। हमारे 'दूरदर्शन' पर ही ऐसे कार्यक्रम-भले ही विरल रूप में हों-प्रस्तुत किए गए हैं, जिनमें लोकहृदय की परख का प्रमाण मिलता है। अतः चिन्ता की बात श्रोता या दर्शकों की सहभागिता की उतनी नहीं है, जितनी कि सामूहिकता की भावना को नए रूप में सृजित करने की। हमारी संस्कृति के लोकरूप, कृषि-अवस्था से जन्मी सामूहिकता की रचना हैं, हमें नई परिस्थितियों में सामूहिकता के उस रूप की सर्जना करनी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होगी, जो एक ओर तो पुरानी कला का संरक्षण करेगी तथा दूसरी ओर नए जीवन-मूल्यों से उत्पन्न नव-सर्जना भी करेगी।

प्रसार-माध्यम की अपनी प्रकृति और सीमा है, उसे संचालित करने वाला है मनुष्य। उसको सामग्री जुटाने वाला हैं मनुष्य। यदि प्रसार-माध्यम की प्रस्तुति में कोई खोट है तो वह प्रसार-माध्यम का न होकर मनुष्य का खोट है, किसी एक मनुष्य का नहीं, बल्कि उस समग्र दृष्टि का, जिससे प्रसार-माध्यम संचालित है। कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृति में भी हमें परम्परा और नवीनता की द्वन्द्वात्मक स्थिति को सहेज कर चलना होगा अन्यथा हम न चाहते हुए भी, विज्ञान के नित्य नए आविष्कारों से उत्पन्न सर्जना की नई परिस्थितियों का विरोध कर अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारने का काम करेंगे, जिस डाल पर बैठे हुए हैं उसी को काटने का निर्णय कर लेंगे।

अन्त में, निष्कर्ष यह है कि जब परिस्थितियां ऐसी पैदा कर दी जांय कि 'संस्कृति' का निर्माता, प्रस्तोता और रचयिता—मनुष्य ही स्वयं पण्यवस्तु बन जाय, तब निरपेक्षतः संस्कृति की चिन्ता करना अपनी खिचड़ी अलग पकाने जैसा होगा। संस्कृति की सारी चिन्ता, मनुष्य और मनुष्यता की चिन्ता होती है। इसलिए संस्कृति रूपों को संवारने वाले मनुष्य के जीवन की चिन्ता, संस्कृति—रक्षण और विकास की पहली शर्त होनी चाहिए। अतः हमें उन मानव-सम्बंधों की चिन्ता करनी होगी, जो सारी सभ्यता और संस्कृति का मूल हैं।

डॉ० शर्मा की यह बात सही है कि इस संकट से उबरने के लिए हमें 'आत्मनिरीक्षण' और संकट से 'आन्तरिक साक्षात्कार' करना होगा। लेकिन इसके साथ हमें यह भी जोड़ना होगा कि हमारे जीवन की वे वस्तुगत और बाह्य परिस्थितियां क्या हैं, जो हमें आत्मनिरीक्षण और आन्तरिक साक्षात्कार करने से रोकती हैं। दरअसल, संकट इकतरफा नहीं—दुतरफा है। इसके लिए हमें जीवन की अन्तः बाह्य वास्तविकता को समझकर, उस मूल पर प्रहार करना होगा, जो इस तरह के संकट को जन्म देता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विचार मंच

वाचिक परम्परा

डॉ. विद्यानिवास मिश्र

वाचिक परम्परा के बारे में इधर कुछ अधिक ही चर्चा होने लगी है, इसके दो स्थूल कारण हैं। एक तो तकनीकी के विकास ने देश और काल की दूरी को श्रव्य के प्रेषण में नगण्य बना दिया है, आदमी दस वर्ष पहले कही हुई बात, सुनाई हुई कविता सुन सकता है, अमरीका क्यों, दूर स्थित पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से परे यान से सन्देश सुने जा सकते हैं। दूसरा कारण है दृश्य शब्द की इतनी बाढ़ आ गयी है कि असह्य हो उठी है, इतना छप रहा है, कितना कुछ पढ़ें। लोग उपन्यास तक किश्तों में सुनना चाहते हैं। पर एक सूक्ष्म कारण भी है, 'बुतों ने सताया खुदा याद आया' बुत बनी माननीय संवेदना की जड़ता से पीड़ित व्यक्ति आज आत्मीयता का भूखा है, वह आत्मीयता सीधे आमने-सामने संवाद से ही संभव है। मनुष्य भाषा के बिना जी नहीं सकता है, जिये भी तो रस नहीं पा सकता। भाषा जितना भी बेधती हो, काटती हो, छीलती हो, कचोटती हो, पर भाषा है तो आशा रहती है इन सब पर मलहम लगाने का काम भी आखिर भाषा ही करेगी। यह भाषा किस कोने से यकायक फूट पड़ेगी, पता नहीं, पर उसके लिए उदग्र उत्सुकता रहती है। विशेष रूप से ऐसे समाजों में जहां वाचिक परम्परा को अरसे से अपने जीवन में शामिल किये हो। भारतीय समाज ऐसा ही समाज है। यह नहीं कि यहां भाषा के लिखित रूप का इतिहास जन-जातियों के समाज की तरह रहा ही न हो, लिखित भाषा के साक्ष्य भी यहां कम से कम पांच-छः हजार वर्ष पुराने हैं और पोथी लिखने, लिखवाने, बांटने, सहेजने और उनके निरन्तर अध्ययन की अनवच्छिन्न परम्परा बहुत पुरानी है। परन्तु जो लिखा गया उसके पीछे भी वाचिक है, सभी पुराण, सभी कथायें, समस्त आगम-शास्त्र समस्त शिल्पशास्त्र, कलाशास्त्र, समस्त स्मृतियां, समस्त धार्मिक वाङमय (ब्राह्मण, बौद्ध या जैन जो भी हों) संवाद के रूप में यदि बोले गये हैं तो निश्चय ही संवादों की एक श्रृंखला ने इनकी रचना को प्रेरित किया होगा। साथ ही जो लिखा गया, वह सम्प्रेषित वाचिक के द्वारा ही अधिक होता रहा। अनौपचारिक शिक्षा तो वाचिक रही ही, चाहे वह कलाकौशल की हो, लौकिक अनुष्ठान की हो, चाहे नीति की हो, चाहे केवल सूचनात्मक हो, पिता या माता या बड़े भाई या गुरू से पुत्र छोटे भाई या शिष्य को संक्रमित होती रही। इससे यह क्षति तो हुई कि इतिहास-बोध की प्रखरता हमारे समाज में नहीं रही, पर क्षति से अधिक लाभ ही हुआ। वह लाभ यह था कि संक्रमित अनुभव या ज्ञान अधिक जीवन्त और अधिक खुला रहा, जब तक कि वाचिक उपाय के द्वारा अनौपचारिक शिक्षा दी जाती रही, वह अनुभव जीवन का व्यवसाय कम आस्वाद अधिक रहा। औपचारिक पाठशाला की शिक्षा में भी वाचिक उपाय का योगदान लिखित की अपेक्षा कहीं अधिक था। सूत्र प्रणाली का उद्देश्य ही यही था कि बात करने के लिए कुछ मूल आधार रहें और उनकी व्याख्या और पुनर्व्याख्या के द्वारा सनातन सत्यों की प्रमाणिकता जाँची जाती रहे। पारम्परिक भारतीय शिक्षा में इसीलिए यह माना जाता था कि बिना गुरुमुख के शास्त्र का ज्ञान एक तो होता नहीं, यदि होता भी है तो बहुत अधूरा और बहुत इकहरा और यदि गुरू से विद्या प्राप्त न की गई हो तो वह सम्प्रेषित नहीं हो सकेगी।

जब तक सम्प्रेषित ज्ञान समझा जाकर फिर दूसरे को समझाया न जाय, तब तक वह नया नहीं होता, न वह स्वानुभूत स्वाधिगत अपना कहा जा सकने वाला ज्ञान होता है। अब लिखने की तो एक सीमा है, कल्पना करे आदमी लिख लिखकर जिन्दगी बिताये, कितनी दूभर होगी यह जिन्दगी। लिखने में कहां आयेगी वह परिस्थिति जिसमें कोई बात कही गयी, वह मनोवृत्ति जिसमें बात कही गयी, वह वक्ता जिसने बात कही, वह श्रोता जिसने बात सुनी, बात कहने का लहजा जिसमें गुस्सा, प्यार, ग़म या खुशी, दुराव-अनदुराव प्रकट हुए बिना नहीं रहते। औपचारिक शिक्षा कितनी भी वस्तुनिष्ठ क्यों न हो, यदि पढ़ाने वाले का मनोयोग न हो, शिष्य के साथ समीप्य न हो, तो ग्राह्य नहीं होगी।

अच्छा शिक्षक शिक्षार्थी की योग्यता देखकर ही उदाहरण-प्रत्युदाहरण देकर उस शिक्षार्थी विशेष के जाने-पहचाने परिवेश से या सूचना-जगत से तुलनीय सन्दर्भ देकर अमूर्त्त चिन्तन को मूर्त्त आकार देता था।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऐसे समाज की वाचिक परम्परा पर यकायक जो छापेखाने ने और पश्चिमी समाज की शिक्षा प्रणाली ने दुहरा आक्रमण किया, उसमें कितनी क्षति हुई, इसका एक उदाहरण आनन्द कुमार स्वामी ने अपनी पुस्तक 'आर यू योर ब्रदर्स कीपर' (क्या तुम अपने भाई पर चौकसी रखने वाले चौकीदार हो ?) में दिया है- "कश्मीर की बर्फीली पहाड़ियों में घूमते समय मुझे एक बूढ़ा गड़ेरिया मिला, वह हाफिज़ का दीवान गाता जा रहा था, मैं उसके पास गया, पूछा क्या गारहे हो, उसने कहा हाफिज का दीवान, मैंने पूछा तुम्हें सब याद है, उसने कहा हाँ, जहाँ से कहें सुना दूँ, मैंने पूछा कहाँ पढ़ा, किससे पढ़ा, यहां तो फ़ारसी बोली नहीं जाती, उसने कहा, मेरे लिए काला अक्षर भैंस बराबर, मैंने पीरों से सुना, मुझे अच्छा लगा, बार-बार दुहराया याद हो गया और अब इन वर्फीली पहाड़ियों में भेड़-बकरियों के ढोर लिए घूमता हूँ तो मुझे सब पहाड़िया ढोर, हवा सब हाफिज़ ही को गुनगुनाते हुए सुनाई पड़ते हैं। फिर उससे अर्थ पूछा और उसने अर्थ की पर्त-दर-पर्त उतारनी शुरू की और मैं चकित रह गया। मैं पूछता हूँ एक निरक्षर इतना शिक्षित जिस परंपरा कारण है और ऐसी कठिन जिन्दगी इतनी रसमय हो सकती है, वह अच्छी या वह साक्षरता जो मनुष्य को वंचित कर देती है हजार-हजार गूँजों से जो ऐसी वीरान पहाड़ियों में बसी हुई हैं।" यह सही है कि इतिहास लौटाया नहीं जा सकता, मनुष्य पीछे देख सकता है, जा नहीं सकता पर वह अपनी यात्रा को अधिक सार्थक बनाने के लिए अपनी आन्तरिक शक्ति से अपने स्रोत से नया सम्बल तो ले सकता है। अंधी गली के अन्त तक पहुँच कर सिर टकराकर मरना तो उसकी नियति है नहीं, दीवाल को तोड़कर राह खोलना ही उसका धर्म है। ऐसा ही विकट समय उपस्थित है और इसी कारण शिक्षा नीति में आमूल सुधार करने की बात इतना जोर पकड़ रही है, और इसीलिए इस समय वाचिक परम्परा के बारे में बात की जा सकती है, क्योंकि इस समय वह बात ध्यान से सुनी जायेगी।

वाचिक परम्परा का पहले हम अर्थ समझें। केवल यही अर्थ नहीं कि बोलकर बात कही जाय, वही बात दूसरे को, दूसरे से तीसरे को और निरन्तर कड़ी के रूप में पहुँचाई जाती रहे तो वाचिक परम्परा बन जाती है। यह अर्थ है, पर यह सतही अर्थ है। वाचिक परम्परा के मुख्य अभिलक्षण तीन हैं। पहला है वाक् की अमोघ शक्ति में अटूट विश्वास, अर्थात् आदमी जब कुछ सचमुच कहता है, अर्थात् मुख या कंठ से नहीं, हृदय से नहीं, नाभि से भी नहीं और गहन गह्वर से मूलाधार चक्र में प्रसुप्त कुण्डलिनी को जगा करके कुछ कहता है तो वह रचना बन जाता है, वह रचना सृष्टि का पुनरावर्तन हो जाती है। दूसरा अभिलक्षण है वाक् की परिशुद्धता की चिन्ता। यह परिशुद्धता निरी अध्यापकी परिशुद्धता नहीं है, यहाँ वर्त्तनी ठीक नहीं, यहां व्याकरण ठीक नहीं, यहां वाक्यविन्यास गठा नहीं, यह परिशुद्धता सही या सच्चे मन से सम्बोध्य को ध्यान में रखते हुये उच्चारण और उच्चरित के अभिप्राय की परिशुद्धता है। ऋग्वेद का एक मंत्र है:—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो
यत्र धीरा मनसा वाचनक्रत।

अत्रा सखाय सख्यानि जानते
भद्रैपां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि

जैसे भूसी समेत सत्तू को चलनी से छानकर भूसी अलग करके अनाज का हीर-हीर शुद्ध सत्त्व अलग किया जाता है वैसे ही धीर ऋषियों ने ध्यान-परायण सत्यद्रष्टाओं ने मनःपूत वाणी रची; इसी वाणी के द्वारा मित्र मैत्री की पहचान पाते हैं, इसी वाणी में परस्पर मित्र हुए मानवों की शोभा बसती है। मनःपूत वाणी का अर्थ है ऐसी वाणी, जो यह मन में सोचकर उच्चरित हो कि यह बात मुझे सुनायी जाती तो कैसी लगती, मेरे मन में कैसा कुछ होता। इसलिए इस वाणी में शिव-संकल्प होना आवश्यक है ताकि यह कल्याणी वाणी हो, मानव संस्कृति की शोभा हो। वाचिक परम्परा का तीसरा अभिलक्षण है, परस्पर हृदय-संवाद। ऐसी ही वाणी के बारे में ऋग्वेद के एक दूसरे मन्त्र में कहा गया कि:—

उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाच-
मुतत्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे
जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

अर्थात् इस वाणी का सौंदर्य हृदय-ग्राह्य है, इसे देखकर भी कोई देख नहीं पाता, इसे सुनकर भी सुन नहीं पाता। वही समझ पाता है, उसी को वाणी अपना रूप पहचनवाती है, जिसका वह वरण करती है, अर्थात् जिसमें ग्रहणशीलता होती है, पहले से उत्सुकता रहती है, उसी को अर्थ का मर्म खुलता है, जैसे सुवासिनी पत्नी का रूप केवल पति के आगे उघरता है वस्त्रों के भीतर से उघरता है।

यह हृदय-संवादिता एक दिन में नहीं बनती, साथ-साथ रहते, साथ-साथ चलते, साथ-साथ खेलने लड़ने-झगड़ने रोते गाते-हँसते बरसों पर बरस बीतते हैं, एक एक चेष्टा, एक एक गन्ध, एक एक भंगिमा एक एक स्वर का उतार-चढ़ाव, परिचित हो जाता है और शब्दों की बाढ़ सिमट जाती है निर्मल और सिमटी हुई पर प्रखर सी धार में, जहाँ सब कुछ दिखायी पड़ता है, पर डुबकी लगाये बिना कुछ भी मिलता नहीं।

वाचिक परम्परा की हृदय-संवादिता का सूत्र था, अपने वत्सल दादा-नाना से अपनी दादी-नानियों से कहानी सुनना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रामायण की महाभारत की, पशुओं के माध्यम से व्यावहारिक समझदारी की, माताओं-बहनों-भाभियों के मुख से गीत सुनना और घर के आसपास के परिजनों से पुरवे-टोले की पुरानी घटनाओं के विवरण सुनना, पंडितजी से कथा सुनना, गुरु से कठिन कौमुदी का पाठ लगाना और इससे भी बड़ा सूत्र था वचन के मोल का गहरा संस्कार । आज हालत यह है कि आप किसी भी आत्मीय के घर जायें और रविवार का दिन हो तो सारी आत्मीयता टी. वी. यन्त्र को समर्पित मानवीय संवेदना के पास गहने रख दी गयी होगी, आप भी उस संवेदना से भीगना चाहें, और इसी के द्वारा आत्मीयता निभाना चाहें तो आपका स्वागत है, अन्यथा आपको लगेगा, क्यों आये ? जिसके कंठ से गीत सुनते तो मन विह्वल हो उठता, आँखें सावन हो जातीं, अब उसके पास रोजमर्रा की विरस जिन्दगी के लिए एक ही सहारा बचा है, रविवार की फ़िल्म । दादी-नानी अब सपने में आती हैं, वह भी अनचाहा मेहमान बनकर । दूसरे रिश्ते तो और चुक गये हैं । गुरु-शिष्य में सम्बन्ध अब केवल भय और त्रास का रह गया है । लोगों की संवादिता रामचरित मानस से नहीं, रामायण सीरियल से हो गयी है । और यह संवादिता नशा बन गयी है ।

अब किसी को गूँजें परेशान नहीं करतीं, चाहे वह भोर में बोलने वाली कोयल की हो, घनी वर्षा में पुकारने वाले पपीहे की की हो, चक्की के चलने के साथ घूमती करुण रागिनी की हो, विवाह के पहले मां के द्वारा दूध का मोल मांगने वाले गीत की हो–

चल ह पुता गौरी बियाहन गौरी बियाहन
दुधवा के मोल कई लेउ
सरग तरइया मइया भले बिसनि जइहें
दुधवा के मोल नाहीं होइ
गइया त दुधवा हटिया बिकाला, बटिया बिकाला
मइया के दूध अनमोल

"मां कहती है गौरी ब्याहने जा रहे हो, पूत, दूध का मोल किये जाओ । पूत कहता है, स्वर्ग के तारे भले ही गिने जा सकें पर मां के दूध का मोल नहीं होगा । गाय का दूध हाट में बिकता है, बाट में बिकता है, मां के दूध का कोई मोल नहीं ।" चाहे विवाह के बाद विदाई के अवसर पर नयी ससुराल के नये रिश्ते के नये बन्धनों की ललक भी हो–

चलन चहत रघुरैया
चल न सखि

(अपने राम अब चलना चाहते हैं, चलो सखी एक बार और देख लो, यह शोभा आँखों में भर लो) चाहे आल्हा गाते समय ढोलक पर पड़ती हुई द्रुत लय वाली थाप की हो चाहे बजरे पर से आती हुई चैती की पंक्ति की हो–

और दिना बोले कोइली दिन दुपहरिया हो
आजु बोलै अधिरतिया हो रामा ।

और दिन तो कोयल दिनदुपहर में बोलती है, कामधाम के शोर में वह बोली अनसुनी रह जाती है, आज इसे क्या हो गया, आधी रात की नीरवता को बेधती हुई क्यों परेशान कर रही है। चाहे हर अनुष्ठान के पूर्व वैदिक स्वस्त्यन की हो, सब शान्तिमय हों, आकाश पृथ्वी अन्तरिक्ष सब जीवजगत् सब शान्तिमय हो, वह शान्ति मुझमें भर जाय ।

कौन अब चर्चा करता है पंडितों के शास्त्रीय विनोद की । गुरूजी ने पूछा तिष्ठति में कौन लकार है, लड़के ने सीखा था ति जुड़े तो जानना चाहिए लट् लकार है, पर उसे लगा कि दोनों ओर ति है, यह नहीं समझ पाया कि पूरा तिष्ठ धातु का रूप है उसने तपाक् से उत्तर दिया, गुरूजी उभयलटी छे' (गुरूजी उभयलटी है, इसमें दो-दो लट् लकार हैं) । अब हर मूर्खतापूर्ण उत्तर के लिए पंडित विनोद में कहेंगे, क्यों उभयलटी है ? कौन चर्चा करता है साहित्य में शब्द प्रयोग की बारीकी की । किसे सुधि है अपने दादा-परदादा के नाम याद रखने की, गाँव के लोगों के दादा-परदादा की तो बात दरकिनार । अब उत्सुकता अगर रह गई है तो इसके लिए कि अखबार में आज कितने लोगों के भूने जाने की खबर छपेगी, कितनी बहुओं के जलाये जाने की खबर छपेगी, किस मंत्रिमंडल के बरखास्त होने की खबर छपेगी या फिर आज सीरियल में क्या आयेगा ?

वाचिक परम्परा की बात मोहासक्ति है नास्टेल्जिया है । जो राहें पीछे छूट गयी हैं, उनके लिए अनावश्यक विसूरना है । पर ये सारी गूँजें क्या पीछे छूटी हुई चारों ओर से बन्द घाटियों की गूँजें हैं या अपने को चीर कर आगे चली जाने वाली खुले आकाश की, जातीय चैतन्य के आकाश के विहारियों की, ऊर्ध्वांग पुकारों की गूँजें हैं । क्या इन गूँजों की लकीरों के बिना कोई अपना चित्र पूरा हो सकता है । वाचिक परम्परा का संस्कार आज प्रगति के पथ का अभिशाप माना जाता है , इससे नजात पाने की सताने लगी है ।

इस विषम परिस्थिति का ही एक दूसरा पहलू है तकनीकी प्रगति जो भयंकर एकरसता ला रही है, जो सब कुछ समतल करती जा रही है, जो सब चौकोर करती जा रही है, वह भयंकर ऊब का कारण बन रहा है । इस ऊब से उबरने के लिए चटखारे के रूप में लोग वाचिक परम्परा की बात करने लगे हैं । और इस चटखारे शैली की वाचिक परम्परा की तलब और चिन्तित करती है । बिना कुछ भी समझे बूझे लोकगीत की धुन का उपयोग होगा, लोककथाओं के ढांचे का उपयोग होगा, लोककला से ड्राइंग रूम सजाया जायेगा,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शहरी अन्दाज में फिल्म की नायिका गाँव की गोरी बनेगी और काव्य वाचन के टेप सम्पत्ति के रूप में आलमारी में सजाकर रखे जायेंगे। गरजे कि उपभोक्ता संस्कृति में एक और उपभोग्य सामग्री जुटेगी। चिन्ता इस बात की होती है कि जो परम्परा उपभोक्ता भाव को नकारने के कारण ही इतनी जीवन्त, इतनीप्रभविष्णु और इतनी अपनी है, वह उपभोग्य बनकर रहेगी कैसे ? कहीं मां का दूध भी उपभोग्य होता है ? क्या अपने को परसने वाला, आस्वाद पाने वाले का आस्वाद नहीं पाता ? पर आज यह समझाना कि कलासृष्टि, काव्यसृष्टि, कोई भी सृष्टि जीवन की सृष्टि से अलग नहीं है, जीवन की प्रक्रिया से बाहर नहीं है और भोगे हुए यथार्थ की बात इस जीवनदर्शन में बहुत खोखली बात है। कला कला के लिए और कला जीवन के लिए यह विवाद ही बेमानी है, क्योंकि कला जीवन है, जीवन कला है, न कला के लिए जीवन है, न जीवन के लिए कला है।

असमंजस की बात यह है कि ऐसी वाचिक परम्परा से भय लगता है, अपना व्यक्तित्व कहीं लुटने का भय लगता है, सिहरन होती है, जाने क्या कुछ अनहोनी घट जाय और एक चलाये हुए ढर्रे पर चलती हुई जिन्दगी यकायक पथ से विचलित हो जाय और अपनी राह खुद बनाने का अभ्यास छूट जाने पर राह बनाये न बने। राह बनाने की तकलीफ जो गवारा नहीं कर सकते, वे वाचिक परम्परा की बात न सोचें, क्योंकि परम्परा में राहें दी हुई नहीं होती हैं, राह पर चलने का संकल्प या राह बनाने का एक विकल्प दिया होता है, पर कोई निश्चित राह नहीं दी होती।

वाचिक परम्परा की बात इसलिए नहीं की जा रही है कि उसे वापिस बुलाया जाय, वह अभी गयी ही कहाँ है, वह तो अदृश्य रूप से अभी भी गतिशील है, पर वह मज्जागत संस्कार है, सब कुछ चुक जायेगा तो उसी मज्जा से ऊर्जा मिलेगी। वाचिक परम्परा की रक्षा की बात भी इसीलिए उतना मतलब नहीं रखती न उसके पुनरुज्जीवन की, यह सब आधुनिकता के दम्भ वाले मन की उपज है। बात इसलिए की जा रही है कि छापेखाने की नियामत को बिना छोड़े उसकी कमियों की पूर्ति के लिए वाचिक परम्परा की नयी अपेक्षा है और उसी दृष्टि से उपयोग उसका सार्थक है। जीवन में आस्वाद की कमी आयी है, सब स्वीकार करते हैं, यह भी स्वीकार करते हैं कि लिखित भाषा बोली जाने वाली भाषा से दूर चली गयी है, इससे सम्प्रेषण की कठिनाई उपस्थित हो गयी हैं, उस भाषा की जड़ता को तोड़ने के लिए भी वाचिक परम्परा से प्राप्त भाषा का सहज संस्कार जरूरी है। इसके अलावा यह भी हम देखते हैं कि उत्पादन के साथ जो रिश्ता हमारा बन रहा है, वह मानवीय नहीं है। मानवीय रिश्ते के लिए ही हम हाथकला हस्तशिल्प आदि में इसी से रुचि लेने लगे हैं। ये हाथकलायें वाचिक परम्परा से ही सीखी जाती हैं, धर्मयुग में छपी विधि से नहीं, यहाँ हाथ हाथ को सिखलाता है और बहुत कम शब्दों से सिखलाता है। शिक्षा विधि को उस प्रयत्नलाघव की, उस अनायास प्रबोधन की आवश्यकता है, इसलिए वाचिक परम्परा कोई मोहासक्ति नहीं है, एक सोयी हुई आग है, जिसे धधकाये रखना जीने के लिए और आत्मीय होकर जीने के लिए जरूरी है।

यह भी है कि वाचिक परम्परा निरन्तर छानने की प्रक्रिया है, अतः जो भी वाचिक परम्परा से प्राप्त है, उसका ग्रहण मात्र अपेक्षित नहीं है उसका ग्रहण बिना परीक्षण के कोई सक्रियता पैदा ही नहीं कर सकता। उसका सतत परीक्षण होते रहना चाहिए, क्योंकि वह अनाम है, वह आता रहता है, केवल बोलने वाले से ही नहीं, सुनने वाले से भी, प्रश्नकर्त्ता के बिना आगम एक पग नहीं चल सकता। उस सोये हुए प्रश्नकर्त्ता को अपने भीतर से जगाना है। अपनी परम्परा को जानो, परखो और उसे अपने सोचने के ढंग से संस्कार दो, उतनी ही वह परम्परा तुम्हारी है।

हम जो लोकगीतों पर क्षण भर के लिए रीझ जाते हैं उससे सीझते नहीं, उसका कारण अधूरा ग्रहण है। हम वाचिक परम्परा का प्रवर्त्तन नहीं अधिग्रहण चाहते हैं, यहीं खोट है। हमारा बल इस पर होना चाहिए कि अपने देश-काल में समग्र परम्परा की जांच हो, परम्परा वही समग्र है जो अविच्छिन्न है, व्यापक है, जो संग्रहालयी वस्तु नहीं है। संग्रहालयी वस्तु तो समाप्त हो चुकी है, उसका प्रदर्शन ऐतिहासिक ज्ञान के लिए सार्थक है, वह जीवन से विच्छिन्न है। पर पहले यह जांचें कि जिसे वाचिक परम्परा हम कहते हैं उसकी निरन्तरता कितनी दूर तक जाती है, लोकगीतों से क्लासिक काव्यों; पुराणों; आगमों तक एक ओर विलोम रूप से तमाम पुरातात्त्विक कड़ियों से नृतत्त्व के अवशेषों से आज के जीवन के अनुष्ठान तक, दूसरी ओर बीच में विच्छिन्न है या ठीक तरह से जुड़ नहीं पायी है, उसे वाचिक परम्परा का हेय अंश मानना चाहिए। दूसरी जाँच व्यापकता की दृष्टि से की जानी चाहिए। आज क्षेत्रीय विखण्डन पर बड़ा जोर है, पर आवश्यक है यह पहचान जो क्षेत्रीय विविधताओं में एकसूत्रता देखती है और इसलिए उसे बार बार टूटने पर बार बार जोड़ती रहती है। इसी से जनजातीय देवता आदिशक्ति से जुड़ते हैं, जनजातीय सरहुल के खेल शालभंजिका की रचना से जुड़ते हैं। इन दोनों स्तरों पर जांचते हुए हम वाचिक परम्परा को अपनी और आज की वाचिक परम्परा बनायें तभी वह परम्परा अर्थ रखेगी, नहीं तो कोरा वाग्विलास होकर रह जायेगी। कुछ लोगों को वाग्विलास से सन्तोष हो, मुझे नहीं है क्योंकि मैं जो हूँ वाचिक परम्परा की उपज हूं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साधना और संघर्ष

कठपुतली कला के दो प्रयोगशील कलाकार

कठपुतली मूलतः राजस्थानी लोककला रूप माना जाता है। राजस्थान में भारतीय लोक कला मण्डल के संस्थापक स्व. देवीलाल सांभर के अथक प्रयासों से राजस्थान के बाहर अन्य प्रदेशों में भी यह लोकरूप प्रचारित हुआ। हमारे प्रदेश के दो वरिष्ठ कलाकारों श्री नवाब अली तथा श्री बद्रीलाल सोनी ने लोक कला मण्डल के माध्यम से इसे सीखा। यद्यपि यह कठपुतली के परंपरागत कलाकार नहीं हैं परन्तु इस कला के प्रति गहन रूप से समर्पित हैं, उन्होंने कठपुतली के निर्माण और प्रदर्शन में अनेक प्रयोग किये हैं जो महत्वपूर्ण हैं। यहां प्रस्तुत है इन दोनों कलाकारों से क्रमशः श्री नवल शुक्ल तथा श्री सुनील मिश्र द्वारा की गई बातचीत—

कठपुतली मेरा ही शरीर है

नवाब अली से नवल शुक्ल की बातचीत

—मध्यप्रदेश में राजस्थान या आंध्रप्रदेश की तरह कठपुतली की परंपरा नहीं है। यहां के अधिकांश कठपुतली कलाकारों ने इसकी प्रेरणा कहीं न कहीं से ग्रहण की है। या तो सीखने के बाद कलाकारों ने कठपुतली कला को शौक या व्यवसाय के रूप में अपनाया है या उन प्रदेशों से आये हुए लोगों ने इस कला को अपनी परम्परा के रूप में जारी रखा है। लेकिन आपने लगभग बीस वर्षों से कठपुतली कला का प्रदर्शन जारी रखा है और अपने प्रारम्भिक काल में आपका निवास सागर रहा है। तो बीस साल पहले जहां पर कठपुतली का प्रचलन शायद ही होगा आपकी रुचि इस तरफ कैसे जागृत हुई?

—वो ये हुआ कि सागर में मेरी पैदाइश हुई। और एक जमाने में सागर के नामी कलाकारों में अभिनय के कारण जाना जाता था। हम लोगों के नाटक देखने के लिये लोग दूर-दूर से आते थे और हमारी सभी टिकटें उस समय भी सेल हो जाया करती थीं। तो अभिनय में महारत हासिल तो मुझे था ही। लेकिन बड़ा होने के बाद काम धंधे की तलाश में बम्बई वगैरह कई शहरों में मुझे भटकना पड़ा कहीं भी मेरे बनमाफिक काम नहीं आया। उसी समय समाज सेवा विभाग, दमोह में मेरी भर्ती हो गई। ट्रांसफर होकर मैं भोपाल आ गया। अब मैं ठहरा कलाकार वो चुपचाप कैसे बैठता। भोपाल में कुछ नयी-नयी योजना शुरू हुई। उदयपुर एक ट्रूप जा रहा था। तो कलाकार के कारण मुझे भी चुना गया। तो वैसे तो मैं नाटक का बड़ा पुराना कलाकार हूँ। बहुत नाटक हमने सागर, दमोह में किये है। बाम्बे में भी रहा हूँ। कठपुतली का तो मुझे ध्यान भी नहीं था। लेकिन भारतीय लोक कला मंडल उदयपुर में ढाई महीने के लिये पहुँच गया। वहाँ हमने इस कला को सीखा। मुझे इसका बहुत शौक हुआ क्योंकि नाटक का कलाकार तो पहले से ही था। इसे सीखने के के बाद वही बात मुझे कठपुतली से करनी थी। अपने सिर्फ हाथों से ही मुझे कठपुतली के पूरे शरीर को भाव और बातचीत के साथ चलाना था। बोलना मुझे ही था। परदे के पीछे से मैं बोलता तो लगता मैं ही नाटक कर रहा हूँ और कठपुतली मेरा ही शरीर है। इस कारण इतना अधिक शौक बढ़ा कि मैं इसी में रम गया।

—उदयपुर में शिक्षा लेते समय आपको क्या-क्या सिखाया गया। आपने खासतौर से किस विषय में अधिक सीखना जानना चाहा?

—ये सवाल आपने बड़ा अच्छा किया। यही सवाल उन्होंने भी पूछा कि आप इतने कलाकार आये हुए हैं आप किन विषयों को सीखेंगे। हमने कहा कि हमें सबसे पहले कठतुतली बनाना सिखाइये। फिर हमारे मन में जो आयेगा हम उसे दिखायेंगे। उन्होंने बनाना ही सिखाया। वह ऐसे कि सबसे पहले मिट्टी भिगाते हैं। उसे खूब बारीक कर लेते हैं पाउडर की तरह फिर उसमें पेपर काटकर डाल देते हैं। उन्हें कूटकर लुगदी बना लेते हैं। इसके बाद उसे लकड़ी के स्टैण्ड पर रखकर मुँह, आंख, नाक, कान बना लेते हैं। पूरा बना लेने के बाद मिट्टी और पेपर की लुगदी अन्दर से निकालकर उसे खोखला कर लेते हैं। सूख जाने के बाद रंग से सब कुछ अलग-अलग बना लेते हैं।

— कठपुतली बनाने का यह सभी काम आप खुद कर लेते हैं?

—जी हाँ यह सब हम खुद करते हैं।

—तब तो आपने कठपुतली बनाने का वर्कशाप भी आयोजित किया होगा?

—यहां तो नहीं किया खुद कर भी नहीं सकते। लेकिन रीजनल कॉलेज में ट्रेनिंग देने के लिए हमें बुलाया गया था। उन्होंने गोवा, बाम्बे आदि के शिक्षार्थियों को वर्कशाप में बुलाया था। उस समय मैंने उन्हें कठपुतली बनाना उसे चलाना और कठपुतली के साथ-साथ बोलना सिखाया था।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

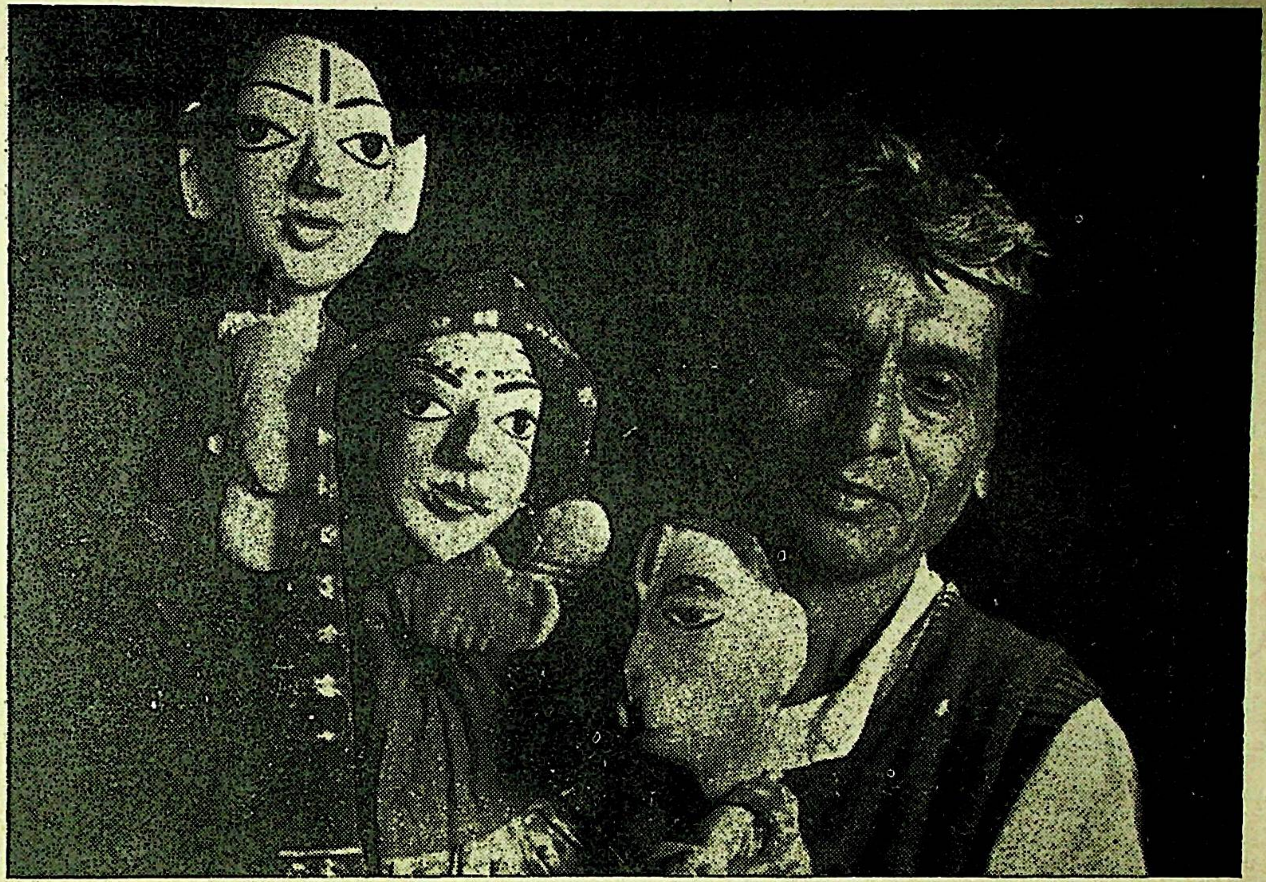

—और क्या-क्या बतलाया ?

—सब कुछ कठपुतली से नाटक कैसे तैयार किये जाते हैं। यहां तक कि कपड़ा काटना, सीना, तथा लहंगा, घाघरा, टोपी, पाजामा, कुर्ता आदि बनाना सब कुछ सिखाया।

—अली साहब आप इतने दिनों से कठपुतली से जुड़े हुए हैं तो बहुत कुछ ऐसा होगा जिसे आप कर तो नहीं पाये हैं लेकिन करना चाहते होंगे। इस बारे में कुछ नया करने की इच्छा जरूर होती होगी ?

—हाँ हाँ बिल्कुल इच्छा होती है। करते-करते हमें भी समझ में आता है कि इस तरह से नये-नये ढंग से काम करना है। कठपुतली में कुछ और नया जोड़ना है। कुछ नया बनाना है। चलने वाली पुतली बनाना है। पुतली को कुछ नया डिजाइन देना है। पर हमारे पास साधन नहीं हैं। बैठने और काम करने की जगह नहीं है। हम जो सोचते हैं और जैसा करना चाहते हैं इतनी जगह हम यहां नहीं बना सकते हैं आप देख ही रहे हैं कि छोटा सा घर है। और यह घर भी दो-तीन माह पहले किसी प्रकार से मिल पाया है। यहां तो बस सोने खाने की जगह है। उतना काम कैसे कर सकते हैं उसमें तो बहुत जगह लगती है। इन सब बातों से मजबूर होकर सोचा हुआ सब काम हमको छोड़ देना पड़ता है।

—शुरू में आपने अभिनय किया करते थे। एक सफल अभिनेता के रूप में आपकी ख्याति थी लेकिन अब आप कठपुलती का काम करते है तो यह सिर्फ नौकरी के कारण हुआ कि........

—नहीं-नहीं इसकी ट्रेनिंग तो हमें नौकरी में ही दी गई। ये हुआ कि जब हम कठपुतली अच्छी चलाने लगे और हमारे यहां प्रोग्राम वगैरह अच्छे होने लगे तो लखनऊ से कुछ आर्टिस्ट आये हुये थे। वे हमारे काम से बहुत प्रभावित हुए उन्होंने हमसे कहा कि आप लखनऊ आइये। हम लखनऊ गये वहां पर हमने सम्पूर्ण रामायण किया। उसी जमाने में इन्दिरा जी वहां आई थी। उनके सामने हमारा कार्यक्रम हुआ उन्होंने देखने के बाद कहा कि खूब अच्छा करते हो। लेकिन वहीं से हमको यह लगा कि पुतली से बच्चों को शिक्षा देनी चाहिए। उनका इससे बहुत मनोरंजन हो सकता है। तो बाद में हमने बच्चों के लिहाज से पुतली के बहुत खेल बनाये। हमको अच्छा भी लगता था।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

— आप कठपुतली के माध्यम से अपनी कला दिखाने के पहले के जीवन के बारे में कुछ बतलाना चाहेंगे जब आप अभिनय किया करते थे और आपके अभिनय की धूम मची रहती थी ?

—ये अभिनय करना तो थोड़ा बहुत अभी भी है। मैं तो पंचायत समाज सेवा विभाग में हूँ। जो छोटे-छोटे नाटक किये जाते हैं, वो हम करते हैं। बड़े-बड़े नाटक करने का हमको मौका यहां नहीं मिलता है। पुराने साथी तो रहे नहीं। लेकिन कुछ और पुराने साथी लोगों के साथ बड़े-बड़े नाटक किये।

—कौन पुराने साथी ?

आशीष कुमार, वेला बोस, सलीमखान, जैसे है। ये लोग नाटक भी करते थे और पिक्चर भी बनाते हैं। पिक्चर में ज्यादा रुचि उनकी और नाटकों में हमारी थी।

—इनसे आपकी पहचान कब हुई ?

— मैं बाम्बे गया था। नाटकों में काम कर रहा था उस समय कुछ फिल्मों में भी काम किया था उसमें बैजू बावरा सबसे अच्छी फिल्म थी। फिर परिस्थिति कुछ ऐसी हुई कि हमें वापस सागर आना पड़ा और सागर आने के बाद हम कहीं नहीं जा सकते और ये पुतली वाली सर्विस मिल गई।

—तो अब तक कठपुतली से आपने कौन-कौन सी कथाएं अभी तक आपने लोगों को दिखाई हैं ?

—कठपुतली में मेरा सबसे महत्वपूर्ण काम है-सम्पूर्ण रामायण मैंने इसे खुद बनाया है। मध्यप्रदेश के कुछ कलाकारों को यहां बुलाकर सिखाया इसको टैगोर हाल में खेला गया जिसे काफी सराहा गया। इसके अलावा भी कई हैं जैसे नवाब की चौपाल।

—इसकी क्या कथा है ?

—यह शेर-शायरी पर आधारित है नवाब की चौपाल होती है जहां वह दुनिया जहान की बातें शेर-शायरी से करता है। थोड़ा अर्ज करता हूँ यह खासतौर से मिलावट पर नाटक है आपको सुनाता हूँ—

जमाना है मिलावट का कि चीजों में मिलावट है,
रहा कुछ भी नहीं खालिस के बीजों में मिलावट है।
जब इस दुनिया में आते हैं तो खालिस कुछ नहीं पाते,
बने हैं इसीलिए झूठे कि घुटी में मिलावट है।
न मां का दूध ही पाया, न मां का प्यार ही देखा,
पले गोदी में आया के, कि ममता में मिलावट है।
न असली घी नजर आया, न खालिस दूध ही चखा,
अनाजों में मिलावट है, मसालों में मिलावट है।

इस तरह से यह बहुत लम्बी शेर-शायरी है आज की मिलावट की दुनिया पर इस नाटक में बात की गयी है और यह सब हम पुतली के मार्फत ही कहते हैं।

—अली साहब पुतली के खेल दिखाते समय आप तो हमेशा परदे के पीछे रहते हैं। सामने सिर्फ पुतलियाँ होती है। लेकिन यह कैसे पता चल पाता होगा कि हम जो चाह रहे हैं वही हाव भाव पुतलियों द्वारा व्यक्त हो रहा है या नहीं ? और उठने बैठने चलने फिरने के साथ आप पुतलियों द्वारा बोले जाने वाले शब्द भी पीछे से बोलते रहते हैं इसमें कोई परेशानी नहीं होती और यह भी कथाएं आप पहले से तैयार रखते हैं कि तुरन्त उसी समय कथाओं की रचना भी करते हैं ?

—सबसे पहले हम नाटक तैयार करते हैं, क्योंकि हमारे साथ एक-दो-तीन और कलाकार होते हैं जिन्हें हमें बताना पड़ता है कि कहानी कैसे चलेगी और पुतली कैसे चलानी है। बोलते समय परदे के पीछे कोई लेडीज होती नहीं है लेकिन महिला पुतली सामने-परदे के सामने होती है तो उनके साथ भी हमें ही बोलना पड़ता है। तो हम उसकी तैयारी करवाते हैं। इस तरह से नाटक तो हमें पहले भी तैयार करना पड़ता है। रिहर्सल लेना पड़ता है, कभी-कभी ऐसा मौका आता है कि पब्लिक को देखना पड़ता है बच्चों को देखना पड़ता है। सिचुएशन समझना पड़ता है। सामने बैठे बच्चों को अभी क्या बताना चाहिए यह दिमाग में आती है या कभी गांव में जाते हैं तो वहां के सिचुएशन और वातावरण को इकट्ठा कर हम तुरन्त एक कथा बना लेते हैं और उसे खेलना शुरू कर देते हैं। जैसे एक गांव में एक कहानी बनाये थे गांव में एक बहुत बड़ा गड्ढा था लेकिन कोई उसे बराबर नहीं करता था। आदमी बैलगाड़ी के चलने में परेशानी होती थी। हमने मालूम किया तो बताया गया कि कोई बनाता ही नहीं इसको तो हमने उसे कठपुतली में ढाला कि हर गुजरने वाला आदमी उसमें एक पत्थर डालते हुए गुजरता है। इस तरह से वह गड्ढा भर गया तो इस तरह से समय के अनुसार भी खेलते हैं।

— तब तो अली साहब आप किसी भी कथा पर चाहे वह आज लिखी जा रही हो या जातियों जनजातियों की मिथक कथाएँ हों— इन पर आधारित कठपुतली का खेल भी प्रदर्शित कर सकते हैं ?

—हाँ बना सकते हैं चाहे वह कोई भी कहानी हो। आदिवासी जनजातियों की कहानी पर भी हम खेल दिखा सकते हैं लेकिन यदि किसी खास आदिवासी की कथा हो तो पहले उनका रंग, रूप, आकार, हावभाव भी देखना पड़ता है तभी कठपुतली बनाई जा सकती है और तो और यदि इनके साथ माह दो माह हमें रहना पड़े तो हम इनकी भाषा भी बहुत जल्दी सीख लेते हैं इससे क्या होगा कि हम उनकी भाषा में कठपुतली का खेल दिखा सकते हैं यह और अच्छा होगा।

—इसी तरह से आज साहित्य में जो कहानियां लिखी जा रही हैं, या आपके आस-पास का ही कोई कहानीकार हों तो उस कहानी के आधार पर भी इसी तरह से खेल बनाया जासकता है ?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

— हाँ, हाँ हमको कोई कहानी मिल जाय या कोई कविता मिल जाय तो उसके आधार पर हम काम कर सकते हैं।

— अभी तक आपने किसी कहानीकार पर कोई खेल तैयार किया है ?

—जी, हाँ मैंने वो भी किया है, मुंशी प्रेमचन्द का लिटरेचर हमारे पास है। हमारी लायब्रेरी में भी है। उसे खेल चुके हैं। मंत्र कहानी आपने पढ़ी होगी। उसमें एक डॉक्टर होता है। उसका बच्चा बीमार हो जाता है तो हम ये करते हैं। इसे करने से यह होता है कि बात प्रैक्टिकल हो जाती है, इसके अलावा शिवाजी हैं, महाराणाप्रताप या गाधी जी हैं। इनके जीवन पर भी हमने नाटक खेला है। पंचतंत्र की कहानियों पर बच्चों के लिए कठपुतली का खेल खेलने में बहुत अच्छा रहता है। हमने पचतंत्र की बहुत कहानियों का खेल खेला है।

—तब तो पंचतंत्र की कहानियों से संबंधित कठपुतलियाँ भी आपने बनाई होंगी जैसे जानवरों की या ?

- बहुत बनाई वो देखिए सब उस बोरे में ढेर लगा है। भरा-पड़ा है उसमें कछुआ है, खरगोश है, शेर है ये सब हम ही बनाते हैं।

— आपने बतलाया था कि रामायण पर कठपुतलियों का खेल आपने प्रदर्शित किया है। आपने इसके कितने शो किये होंगे ?

—तीन-चार शो तो हमने यहीं पर रवीन्द्र भवन में किये हैं। और जगहों पर भी बहुत किया है। गिनती नहीं रखता मैं इसलिए मुझे याद नहीं रहता है। लेकिन हम छोटे-छोटे गांव में भी प्रदर्शन करते हैं। इस कारण हमारे पास बहुत सामान और कलाकार इकट्ठे हो जाते हैं। तो हम सम्पूर्ण रामायण धारावाहिक रूप में नहीं दिखाते। बल्कि रामायण को छोटे-छोटे खण्डों में विभाजित कर लेते हैं। तब दिखाते हैं। इससे सुविधा होती है। जैसे केवट संवाद, कुबड़ी कथा आदि।

—आपने अभी बताया कि रामायण के कई छोटे प्रसंग अपने हिसाब से आपने तैयार किया है। लेकिन पूरी राम कथा के आधार पर छः या सात भागों में कठपुतली का खेल तैयार करने के लिये आपसे अनुरोध किया जाये तो आप आधा-आधा घंटे का खेल तैयार कर सकते हैं ?

—यदि हमको यह बता दिया जाय कि फलाने तारीख को फलाना प्रसंग दिखाना है तो हम उसे तैयार करके दिखा सकते हैं। प्रसंग के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हो आधरा पर हमें पहले से अपना स्टेज तैयार करना होगा। उसके लिये पुतलियाँ बनानी होंगी संवाद तैयार करना होगा।

—कठपुतली के प्रदर्शन के लिए स्टेज की तैयारी आप किस तरह से करते हैं ?

—स्टेज तो कई तरह से बनाया जा सकता है उसके लिए जगह देखना पड़ता है। एक तो यह कि दो खाटों के बीच हम लोग चादर डाल लेते हैं। या एक परदा तान लेते हैं। हमारे पास धागे वाली पुतलियां तो हैं नहीं। हम तो हाथ में पहनने वाली दास्तानों वाली कठपुतली का खेल दिखाते हैं तो इसके लिए अक्सर हमें खड़ा रहना पड़ता है। कई बार तो बैठकर भी दिखाते हैं। कभी-कभी टेबल के ऊपर चादर लगा देते हैं नहीं तो बीच में एक रस्सी लगा देते हैं और उसमें परदा लगाकर पीछे खड़े हो जाते हैं। कभी-कभी दो खम्भों के बीच रस्सी और चादर बांधकर भी दिखा लेते हैं। तो ये तो जैसी जगह होती है वैसा स्टेज बना लेते हैं।

—जब ही आप स्टेज बनाते हैं उसमें मध्य भूमिका परदे की ही होती है ?

—जी हां, परदे के ऊपर ही हम मुख्य ध्यान देते हैं साथ ही बैठने की दूरी बनाते हैं कि पब्लिक इतनी दूरी पर बैठे।

—मान लीजिए किसी घर के बाहर की कहानी आप पुतली से दिखा रहे हैं तो उस दृश्य को आप मंच पर दिखाते हैं या नहीं ?

—नहीं दृश्य हम नहीं दिखाते इतनी प्रापर्टी लगाने में हमको तकलीफ होती है।

—अली साहब कहीं पर छायाओं के द्वारा पुतली का प्रदर्शन होता है, कहीं धागों के सहारे तो कहीं हाथ की उंगलियों से तो जब आप उदयपुर कठपुतली कला के प्रशिक्षण हेतु गये तो अपने दस्ताने वाली क़ठपुतली का ही प्रशिक्षण क्यों लिया ?

—इसलिए कि यह हमें बहुत सरल लगता है इसके साथ हम पूरी तरह संवाद बोल लेते हैं धागे वाली पुतली में परेशानी तो यह है कि पुतली के मुँह की पिपड़ी बनानी पड़ती है उस पिपड़ी से आवाज तो आती है लेकिन बोलचाल समझ में नहीं आता दास्ताने की पुतली का यह है कि एक हाथ में आपने मौलाना को पहना और दूसरे हाथ में आपने बेगम को और बोलना शुरू कर दिया जैसे —अरी ओ बेगम, अरी जल्दी से नाश्ता तैयार तो कर दो।

—क्या है, बड़ी जल्दी पड़ी है क्या ?

—तो इस तरह से पात्र कोई भी हो पंडितहो, अहीर या नाऊ हो दास्ताने से फटाफट बोल लिया जायेगा। तो डायलाग को बोल लेने के कारण ही दास्ताने वाली पुतली हमें अच्छी लगतीहै।

—मतलब संवादों की अदायगी के ऊपर आप विशेष ध्यान देते हैं इस कारण आपने दस्ताने वाली पुतली चलाना चुना।

—इसलिए चुना और ये हमको पसंद है इसे ही हम सिखाते भी हैं।

—इसी तरह से अभिनय प्रतिभा का भी उपयोग आप पूरा कर लेते हैं ? अच्छा जैसे आपको सीरीज के रूप में यह कहा जाय या मान लीजिए इतने दिनों से आप कठपुतली का खेल दिखा रहे हैं तो आपने कुछ कथाओं के प्रदर्शन की कल्पना अवश्य की होगी। यानी आपने ऐसा ऐसा कुछ सोचा होगा जिसे आप एक श्रृंखला के रूप में दिखलाना चाहते होंगे ?

—देखिये साहब हमारे पास साहित्य बहुत है। आपने यह बहुत अच्छा सवाल पूछा है। मैं रामायण, महाभारत, तुलसीदास, मीरा-बाई, कबीरदास आदि के बारे में खेल दिखाना चाहता हूँ खासतौर से मैं धार्मिक साहित्य को कठपुतली के माध्यम से प्रदर्शित करना चाहता हूँ मेरी बड़ी अभिलाषा है कि मैं इन कथाओं को उनकी पृष्ठभूमि में खासकर गांवों में दिखाऊं।

—एक बात और पूछना चाहूँगा अत्यन्त ही निजी बात है आप अपने परिवार के बारे में कुछ बताएँ ?

—मेरे पांच बच्चे हैं। सबसे बड़ी लड़की सर्विस करती है दूसरी लड़की बी ए. में है उससे छोटा लड़का आठवीं में और उससे छोटी लड़की छठवीं कक्षा में है बड़ी लड़की हमारे काम में तो ज्यादा इंटरेस्टेड नहीं है लेकिन, बाकी सभी बच्चे कठपुतली बनाना, रंगना कपड़े सीना और उसके चलाने में पूरा मन लगाते हैं। लेकिन इस सब काम में निधि की आवश्यकता है और हमारे पास निधि का अभाव होने से हम ढीले पड़ जाते हैं इतनी जगह और ऐसे वाता-वरण में हम क्या कर सकते हैं। लेकिन हमारा परिवार इसमें बहुत मदद करता है।

—यानी आपका परिवार इस काम में मदद भी करता है और इस कला के प्रति रुचि भी रखता है ?

—जी, हाँ।

—आपकी कला को क्या एक परम्परा के रूप में जारी रखने के प्रति आपके परिवार के सदस्यों की रुचि है ?

—मैं तो समझता हूँ कि उनकी रुचि है। कारण कि वे सभी लोग हमारे काम में हमारी मदद करते हैं, प्रदर्शन में हिस्सा लेते हैं, और इस बाबत वे लगातार हमसे चर्चा करते हैं। इन सब कारणों से मुझे तो इसका पूरा विश्वास है कि मैं इस कला के प्रति किसी फल की कामना से आकर्षित नहीं हुआ, बल्कि यह मेरी जरूरत है। इसी कारण मुझे जब, जहां, जिस किसी ने भी बुलाया सीखने के लिए मैं हमेशा गया। लेकिन एक बात है कि मेरी इच्छा यह है कि यहाँ पर भोपाल में इस कला के लिए कोई वर्कशाप या संस्था खुले जहां पर पूरी स्वतन्त्रता से काम करने का यहां के बाशिंदों को सीखने का मौका मिले। कारण कि ऐसी संस्थाएँ बाकी अन्य जगहों जैसे दिल्ली, अहमदाबाद, लखनऊ, कलकत्ता, मद्रास, बाम्बे, आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु, राजस्थान आदि में तो है लेकिन हमारे यहाँ नहीं है। हमारे यहां भी होना चाहिए यह मेरी इच्छा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कठपुतली हमारे देश की पुरानी विरासत है

बद्रीलाल सोनी से सुनील मिश्र की बातचीत

—कटपुतली हमारे देश में लम्बे समय से जनाकर्षण का केन्द्र रही हैं। कठपुतली दर्शकों में आयु नहीं देखती, मनोरंजन जरूर करती है। कठपुतली प्रदर्शन देखकर हर वर्ग का दर्शक प्रसन्न होता हैं। चाहे वह बच्चा हो या युवक या फिर बुजुर्ग। कठपुतली प्रदर्शन करने वालों में मध्यप्रदेश के धार निवासी कलाकार बद्रीलाल सोनी हैं जो लंबे समय से कठपुतली कला में निरन्तर जोर आजमाइश करते आ रहे है। उन्होंने इस कला में तमाम प्रयोग भी किये हैं जो कठपुतली जगत में अदभुत कहे जाते हैं और सराहे भी जाते हैं। श्री सोनी दस्ताने वाली कठपुतली का नृत्य प्रदर्शन करते हैं। इस प्रकार की कठपुतलियों में हावभाव संचालन का उनका प्रयोग बड़ा ही अलौकिक कहा जाता है। यहाँ प्रस्तुत है कठपुतली के संदर्भ में उनसे की गई बातचीत :—

—कठपुतली की ओर आपका झुकाव कब से हुआ? उस समय आपकी आयु क्या थी? कहां के रहने वाले हैं?

—सन 1965 में श्री देवीलाल सांभर का कार्यक्रम देखा था। वे भारतीय लोककला मण्डल उदयपुर से सम्बद्ध थे। उस कार्यक्रम को देखकर मेरे मन में इस कला के प्रति रुझान पैदा हुआ। उस समय मेरी आयु 32 वर्ष थी।

—परिवार के कोई सदस्य इस कला में रुचि रखते थे?

—मेरे पिता श्री कन्हैयालाल सोनी चित्र व मूर्तिकला में माहिर थे। वे रंगमंच के कलाकार भी थे। बड़वानी दरबार में कवि की हैसियत से जाने जाते थे। वहां वे रसिक की उपाधि से विभूषित थे।

—आपकी रुचि में परिवार का क्या योगदान है?

—वर्तमान में कठपुतली निर्माण व प्रयोग में मेरी पत्नी की विशेष भागीदारी है। वैसे पूरा परिवार पूर्ण सहयोग देता है। इसके अतिरिक्त मेरे एक टेलर पन्नालाल ड्रेस मेकर है। वे बहुत ही सुन्दर व कलात्मक ड्रेस बनाकर देते हैं। महिला पात्र के वस्त्र मेरी लड़की उषा बहुत ही अच्छी डिजायन की बनाकर देती है। इसके अतिरिक्त एक कारपेन्टर मदन मिस्त्री नाटकों के ड्रेस बनाने में बड़े माहिर हैं, इनका सहयोग भी मुझे मिलता रहता है।

—कठपुतली के संदर्भ में प्रकाश डालिये? इसके बारे में कितना जानते हैं? इस कला का जन्म कहां व कैसे हुआ? यह कला कहां पनपी और कैसे?

—ईसा के 3 से 5 शताब्दी पूर्व भारत में यह कला प्रारम्भ हुई। भारत से यह कला सम्पूर्ण विश्व में पहुँची। पश्चिम राष्ट्रों में इसका इतिहास पाँच हजार वर्ष पूर्व का है। प्राचीन काल में एशिया कठपुतली सिरमौर था। कठपुतली द्वारा शिक्षा जगत में क्रांति आयी। पहले यह राजा-रानी की कहानी तक सीमित थी। बाद में इसके द्वारा अन्य प्रकार के कार्यक्रम भी सोचे गये। मूलत: कठपुतलियाँ चार प्रकार की होती हैं:—

—सादी दस्ताने वाली जो उंगलियों पर नचायी जाती हैं।

—धागे वाली कठपुतली जिसके धागे उंगली से बंधते हैं।

— छड़ वाली कठपुतली।

—लेदर या पुट्ठे की कठपुतली जो प्रकाश के सहारे दिखायी जाती है।

—आपने कठपुतली चलाने की कला कब सीखी। कठपुतली बनाना कब से शुरू किया?

—सन् 1972 में साक्षरता निकेतन लखनऊ से प्रशिक्षण प्राप्त कर कठपुतली बनाना व चलाना सीखा।

—कठपुतली कला वर्तमान में किस रूप में है? आपकी दृष्टि में इसे किस रूप में होना चाहिए?

—वर्तमान में यह लोक कला के रूप में है। लेकिन इसे और व्यापक होना चाहिए। इसके प्रदर्शनों में वर्तमान समस्याओं का समावेश होना चाहिए। शिक्षा व जनसंख्या के क्षेत्र में कठपुतली के नाट्य प्रयोग होना चाहिए। उदयपुर सेवा मंदिर साक्षरता निकेतन लखनऊ ने इस ओर महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान परिषद ने इस कला को आगे बढ़ाने में काफी योगदान दिया है।

—कठपुतलियों की अनुमानित कीमत न्यूनतम से अधिकतम क्या होती है?

—कठपुतलियों की अनुमानित कीमत कम से कम सौ रुपये व अधिक से अधिक एक हजार रुपये तक होती है।

—इस कला को अधिक व्यापक कैसे बनाया जा सकता है?

—इस कला को आगे बढ़ाने हेतु प्रदेश में एक केन्द्र खोला जाना चाहिए। कठपुतली से सम्बन्धित विधिवत प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित हुआ करें, जिससे यह कला आगे बढ़ सके।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

—आपके अब तक के प्रमुख कार्यक्रम व पुरस्कार?

—अभी तक लोकोत्सव भोपाल, ग्वालियर, दुर्ग, रायगढ़, उज्जैन, पंचायत सचिव सम्मेलन पचमढ़ी व जबलपुर आदि स्थानों पर कार्यक्रम दिये है। लोकोत्सव भोपाल में मुख्यमन्त्री श्री अर्जुनसिंह द्वारा पुरस्कृत भी किया गया। प्रख्यात गायक कुमार गंधर्व द्वारा लोकोत्सव उज्जैन में पुरस्कृत हुए। मध्यप्रदेश आदिवासी लोक कला परिषद भोपाल के आयोजन "सम्पदा ८८" में धार से कार्यक्रम किया। "लोकोत्सव ८८" रतलाम प्रदर्शनी में भी कार्यक्रम प्रस्तुत किया।

—कठपुतली के पुराने प्रदर्शनों और अब के प्रदर्शनों में क्या सुधार हुए है?

—पुराने प्रदर्शन राजा रानी की कहानी व सामन्तवादी कहानियों तक ही सीमित थे। वर्तमान में जनसमस्याओं, धर्म निरपेक्षता, साक्षरता अस्पृश्यता आदि समस्याओं पर कार्यक्रम प्रस्तुत किये जाते हैं।

—कठपुतली मे आपने नये प्रयोग किये हैं। इनके बारे में बतायें?

—हमारी कठपुतलियां बोलती है पलकें हिलाती हैं?

—सूत्रधार–हाथ से हैट निकालता है। जेब से रूमाल निकालकर मुंह पोंछता है। हाथ से चश्मा लगाता व निकालता है। कठपुतली का भवाई नृत्य, जो कठपुतली जगत में एक नया प्रयोग है। इसमें एक पुतली दूसरी पुतली के सिर पर एक-एक करके सात घड़े चढ़ाती है और नृत्य करती है। नृत्य करते हुए झुककर मुंह से रूमाल उठाती है और फिर एक–एक करके घड़े उतारती है।

— जादू-जादू का अद्भुत चमत्कार सिगरेट पीना, टोपी उड़ाना, जबान का पुल बनाना, पानी निकालना तथा अन्य कई करिश्में। चलती बैलगाड़ी नया प्रयोग है, बकरी, कुत्ता, बन्दर, भालू की लड़ाई का नाटक में समावेश, कठपुतलियों द्वारा ढोलक, गिटार मंजीरा, बायलिन चंग, शहनाई आदि बजाना। इसके अतिरिक्त भविष्य में कठपुतली के चेहरे पर आखें, मुंह, भौंहे, मूंछे आदि हिलाने के भाव लाने तथा प्रत्येक अंग के संचालन के अनुसंधान में भी जुटा हूं।

—आप तीन-चार वाद्य बजाना जानते हैं। अभिनय भी जानते हैं। फिर आपने कठपुतली को ही क्यों चुना?

—मुझे एक आयोजन में भोपाल बुलाया गया। वहां कठपुतली को कमजोर दृष्टि से देखा गया। मैंने जिद करके कठपुतली की रिहर्सल दिखाई तो उनको कार्यक्रम पसन्द आ गया और उन्होंने उसका आयोजन किया। तबसे मैं कठपुतली के प्रभाव को कमजोर न होने देने के लिये तथा व्याप्त पूर्व धारणाओं को बदलने के लिये कठपुतलियों के कार्य में ही जुट गया। आज भी मैं संतुष्ट नही हूँ। कठपुतली हमारे देश की पुरानी विरासत है। मेरा स्वयं का स्वप्न है कि लोग भी इसकी ओर अपना रुझान बढ़ाये। इस कला को कमजोर न समझे क्योंकि हमारी संस्कृति का यह महत्वपूर्ण अंग है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आकार और रंग

लोक आभूषणों की बुन्देली परम्परा

मुश्ताक

बुन्देलखंड अपनी लोक संस्कृति की समृद्ध परम्परा के कारण विशेष स्थान रखता है। यहां धातु शिल्प की लंबी परम्परा मौजूद है। धातु शिल्प कला परम्परा को किसी विशेष जाति ने सुरक्षित नहीं रखा है बल्कि विभिन्न इलाकों में इन्हें अलग-अलग नाम से जाना जाता है। बस्तर के धातु शिल्पी घढ़वा कहलाते हैं तो सरगुजा जिले में ये भलार और कसेर कहलाते हैं। रायगढ़ जिले में झारा तो मंडला और बैतूल जिले में इनका नाम भरेवा है। विलक्षण बात यह है कि बुन्देलखण्ड में यह काम सुनार जाति के ही लोग करते हैं। धातु शिल्पों के विषय तो अलग-अलग हैं ही तकनीकी और रूपगत विशेषताओं में भी इतना फर्क है कि हर क्षेत्र का शिल्प दूर से ही पहचाना जा सकता है।

बुन्देलखण्ड का धातु शिल्प विलक्षण है। सुनार जाति के लोगों का मुख्य पेशा सोने के आभूषण बनाना होता है जिसके कारण वे सुनार कहलाते हैं पर टीकमगढ़, छतरपुर, झांसी, गुरसराय, जखोरा शाहगढ़ आदि जगहों पर सुनारों की विशेष शाखा है जिनका व्यवसाय ही पीतल के आभूषण बनाना और स्थानीय मांग के अनुसार देवी-देवताओं की पीतल की मूर्तियां ढालना है। टीकमगढ़ के भैयालाल सोनी और लालाराम सोनी अपनी विलक्षण प्रतिभा के कारण दूर-दूर तक प्रसिद्ध हैं। हिन्दू समाज में सोना एक पवित्र धातु मानी जाती है इस कारण सोने का काम करने वाले सुनारों का सामाजिक स्तर भी कलात्मक कारीगरी करने वाली दूसरी दस्तकार जातियों से ऊंचा ही माना जाता है।

लालाराम सोनी बताते हैं कि वे अवधियां या औधिया सुनार हैं। इनके पुरखों का मूल स्थान अयोध्या के निकट किसी गांव में था, और अयोध्या के निवासी होने के कारण सुनारों की यह शाखा अवधिया सुनार कहलाती है पर टीकमगढ़ में इनकी पांच पीढ़ियां गुजर चुकी हैं। अवधिया सुनारों का पैतृक व्यवसाय पीतल के गहने बनाना रहा है, सो इनके पुरखे भी यही व्यवसाय करते थे। टीकमगढ़ में सुनारों की दुकान की महत्ता इस बात में होती है कि उनके यहाँ कितने वजन के गहने बने हुए रखे रहते हैं, यानी एक समय में वे कितने मन पीतल के गहने दे सकते हैं। लालाराम के पुरखों की दुकान अस्सी मन की दुकान मानी जाती थी। उनकी यह प्रतिष्ठा आज भी बनी हुई है।

वे बताते हैं कि सोना हिंदुओं में पवित्र धातु मानी जाती है। अनेक लोग अपने दांत पर सोना मढ़वा लेते हैं ताकि मृत्यु के समय उन्हें यह धातु पवित्र करे। लालाराम कहते हैं कि कुछ समय पहले तक दांतों में सोना मढ़ाने का प्रचलन बहुत था। अब यह कम होता जा रहा है। अब तो गहनों की महत्ता और उनमें छिपे प्रतीकों की भी लोगों की जानकारी नहीं रही। बुन्देलखण्डों के गांवों में आज भी यह विश्वास किया जाता है कि सोने के आभूषण पहनने से जादू टोने का असर नहीं होता। वे लोग स्त्रियों द्वारा नाक में पहनी जाने वाली नथनी को बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं। सारे उत्तर भारत में नथनी स्त्री की मर्यादा का प्रतीक मानी जाती है। किसी स्त्री की नथनी उतारने का अर्थ उसके मानमर्दन से लगाया जाता है। परम्परिक नथनी में एक लाल और सफेद मोती होता है जो क्रमशः सूर्य और चंद्र का प्रतीक है।

नथनी, बिछुआ और बिंदिया ये तीनों गहने हिन्दू स्त्रियों के लिए बहुत महत्व रखते हैं। ये सुहाग के प्रतीक माने जाते हैं। इन आभूषणों का महत्व इतना है कि करवा चौथ और कोहबर आदि के भित्ति चित्रों में इन्हें सुहाग पिटारी के साथ चित्रित किया जाता है।

लालाराम बताते हैं कि अब तो सभी गहनों के डिजाइन दिन पर दिन बदलते जा रहे हैं पर जो परम्परागत डिजाइन है वे कोई न कोई प्रतीक अथवा अर्थ अवश्य छिपाये रहते हैं। जैसे गले में पहनी जाने वाली कंठी में सिंघोड़े के फूलों के पैटर्न बनाए जाते हैं। सिंघोड़े का पौधा शास्त्रों में पवित्र माना गया हैं। इसके फल व्रत के समय भी खाये जा सकते हैं। ऐसी मान्यता है कि स्नान के समय कंठी में बने सिंघोड़े के फूलों पर गिरे पानी के शरीर पर बहने से शरीर पवित्र हो जाता है। इसी प्रकार गले में पहनी जाने वाली हंसली का नाम गले की हड्डी (कालर बोन) के नाम पर पड़ा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऐसा माना जाता है कि वह स्वास्थ्य के लिए लाभकर होती है, विशेष तौर पर बच्चे वाली स्त्रियां जब बच्चों को खेलाती हैं तब उनके गले में झटका लगने की आशंका होती है। ऐसे समय में गले में पहनी हंसली झटका लगाने से बचाती है।

सोने की इस पवित्रता के बखान के बावजूद बुन्देलखंड की नीची मानी जाने वाली लोकजातियां यादव, खटीक, चमार, अहिर-वार, आदि की स्त्रियां पीतल के बने गहने पहनतीं हैं। पीतल के बने ये आभूषण वजन में तो भारी होते ही हैं साथ ही इनकी बनावट और इन पर उत्कीर्ण पैटर्न भी रूढ़ परम्परागत होते हैं। आम तौर पर सुनार जो आभूषण बनाते हैं वे खुदाई, छिलाई और जड़ाई द्वारा बनाए जाते हैं पर बुन्देलखंड में प्रचलित पीतल के गहनों की विशेषता यह है कि वे धातु को ढालकर बनाए जाते हैं। सुनारों ने इस आदिम पद्धति का उपयोग छोटे-छोटे पर कलात्मक गहनों को गढ़ने में जैसा किया है वह देखकर आश्चर्य होता है। इस तरह तैयार गहना पहले मोम में बनाया जाता है और फिर उसे पीतल में ढाला जाता है। माथे की ढिकुली, नाक की लौंग या पुगरिया, कमर में कम से कम छै सौ ग्राम भार का करधोना या आधा किलो भार का बिछुआ हाथों में चूरा. छन्नी, बगुमा, बेलचुड़ी और कगन इनमें से किसी का भी वजन दो सौ ग्राम से कम नहीं होता।

चुरीं पैंजना चपटा : यह पैर में पहने जाने वाला जेवर है जो कांसे का बना रहता है। इसकी आकृति तिकोनी होती है तथा वजन एक से दो किलोग्राम तक होता है। पैंजना सभी जाति की औरतें पहनती थीं इसका प्रचलन लगभग चालीस वर्ष पहले बहुत ज्यादा था, अब इसका प्रचलन लगभग बन्द हो गया है।

चुरीं पैंजना गोल : चपटे पैंजना के मुकाबले में इसके किनारे गोल रहते हैं इसका वजन भी डेढ़ से दो किलो रहता है। तथा इसका प्रचलन अब बिल्कुल बन्द सा हो गया है।

पैंजना कांसे के : यह कांसे के बनते हैं और पैरों में पहने जाने वाला जेवर है। इसका वजन लगभग छै सौ ग्राम से डेढ़ किलो ग्राम तक रहता है इसमें दो डिजाइन के पैंजना बनते थे। एक को चीखा तथा दूसरे डिजाइन को ऐंठी पैंजना कहते है। इसको आदि-वासी. काछी, चमार, मेहतर आदि जाति की औरतें पहनतीं थीं। यह पैंजना बीस वर्ष पहले काफी प्रचलन था लेकिन अब इसका प्रचलन लगभग बन्द सा हो गया है। स्त्रियां इसी डिजाइन के चांदी के पैंजना पहनती है।

पैंजना गिलट के : यह पैंजना गिलट के बने रहते हैं इसका वजन तीन सौ ग्राम से लेकर एक किलो दो सौ ग्राम ग्राम तक रहता है। इसको अभी भी ज्यादातर औरतें पहनती है। इसे काछी, चमार, मेहतर, ठाकुर, आहिरवाद तथा लकड़हारे, लोदी, जाति की औरतें पहनती हैं तथा दूसरे को ऐंठी कहते हैं इसका प्रचलन बुन्देलखण्ड में अभी भी है।

पैंजनिया : यह पैंजना का छोटा रूप है जिसको लगभग छै वर्ष से बारह वर्ष की लड़कियां पहनती है तथा वजन एक सौ पचास ग्राम से छै सौ ग्राम तक होता है। यह भी दो प्रकार की डिजाइन के होते हैं पहला चीखा तथा दूसरा ऐंठी।

तोड़ा सादा : यह भी गिलट के बनते हैं तथा वजन छै सौ से डेढ़ सौ ग्राम तक रहता है। इसको लोदी, काछी चमार, मेहतर, जाति की औरतें पहनतीं हैं।

तोड़ा गुच्छाया : यह भी सादा तोड़ा जैसे ही होते हैं। इसमें प्रत्येक तोड़ा पर दो अंगूर के गुच्छे जैसे डिजाइन लगे रहते हैं इसलिए इन्हें गुच्छाया तोड़ा कहते हैं.।

लच्छा : यह गिलट तथा चांदी के बनते हैं। गिलट के लच्छा लोदी जाति की औरतें तथा मुस्लिम औरतें ज्यादा पहनती हैं। जो पैसे से कमजोर रहती है वह गिलट के तथा जिनके पास पैसा ज्यादा रहता है वह चांदी के लच्छे पहनती हैं।

पायजेब : यह पैर में पहने जाने वाला जेवर है डिजाइनदार गोल रिंग सा होता है तथा नीचे घुंघरू लगे रहते हैं। इसको मुस्लिम जाति की औरतें ज्यादा पहनती है। इसका वजन लगभग सौ ग्राम से तीन सौ ग्राम तक रहता है। इसको अभी भी पहना जाता है।

चुल्ला : यह कांसे के बने रहते हैं इनका वजन पांच सौ ग्राम से लगाकर डेढ़ किलो तक रहता है इसको अधिकांश लकड़हारे या आदिवासी जाति की औरतें पहनती हैं। इसका प्रचलन बीस वर्ष पहले बहुत था लेकिन अब बन्द सा हो गया है।

घुन्सी : यह भी कांसे की बनी रहती है इसका वजन लगभग पांच सौ ग्राम से लेकर तीन किलो तक रहता है। यह कई प्रकार की होती है।

(अ) बजनू घुनसी .–इसमें नीचे की तरफ घुंघरू बने रहते जिससे यह बजती है।

(ब) घुन्सी सादा :-यह सादी ही रहती है कई कड़ी के लिए जोड़ कर बनाई जाती है।

(स) घुन्सी चन्दक :–इसमें गोल गोल डिजाइन के कुछ उभार रहते हैं इसलिये इसे चन्दक घुन्सी कहते हैं इसका प्रचलन ज्यादातर बीस वर्ष पहले था। अब बिल्कुल बन्द हो गया है। इसको आदिवासी तथा, लोदी जाति की औरतें ज्यादा पहनती हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पैरी : यह भी कांसे की बनी रहती है तथा पैरों में पहनी जाती है इसको आदिवासी औरतें ज्यादा पहनती थीं अब इसका प्रचलन लगभग बिल्कुल बन्द सा हो गया है इसका वजन लगभग एक सौ पचास ग्राम से छै सौ ग्राम तक रहता है यह भी दो प्रकार की होती है। (१) चन्दक पैरी (२) सादा पैरी।

गुजरी : यह गिलट तथा चांदी और कांसे की बनती थी अब इसका प्रचलन लगभग बन्द सा हो गया है। इसका वजन भी पाँच सौ ग्राम से लेकर डेढ़ किलो ग्राम तक रहता है। इसको सभी जाति की औरतें अपनी अपनी सामर्थ्य के अनुसार कांसे, गिलट, तथा चांदी की बनवाकर पहनती है।

तोड़ा करोंवार : यह कांसे के बने होते हैं वजन चार सौ से छै सौ ग्राम तक रहता है। यह लगभग पचास वर्ष पहले चलते थे इसमें कड़ी इस प्रकार से जौड़ी जाती है कि आपस में हिलती रहती है। इसको आदिवासी औरतें ज्यादा पहनतीं हैं।

पायल : यह गिलट की बनी रहती है यह कई प्रकार की होती है। (अ) चेन या पायल (ब) पलियादार (स) चिड़ी–पान (ड) चन्दकदार (इ) कैरीदार आदि यह पायलें आजकल सभी जाति की औरतें पहनतीं है।

बिछुआ : यह कमर में पहना जाता है और गिलट तथा चांदी का बनता है। इसका वजन एक सौ पचास ग्राम से चार सौ ग्राम तक रहता है इसको सभी जाति की औरते पहनती है।

करधौना ठप्पादार : यह भी कमर में पहना जाता है इसको सभी जाति की औरते पहनती हैं यह गिलट का बना रहता है। इसका वजन चार सौ से आठ सौ ग्राम तक रहता है।

कमरपेटी : यह भी गिलट की बनी रहती है तथा कमर में पहनी जाती है इसमें चार पांच तथा सात चैनों को आपस में मिलाकर बनाया जाता है। वजन चार सौ से आठ सौ ग्राम तक रहता है।

बखुरिया : यह जेवर चाँदी तथा गिलट का बना रहता है इसको आदिवासी लोदी, काछी, ठाकुर जाति के लोग पहनते हैं वजन सौ से ढाई सौ ग्राम तक रहता है। यह बांह में पहनी जाती है।

बाजूबन्द : यह भी बाँह में पहना जाता है सवर्ण जाति की औरतें सोने का बनवाकर पहनती हैं तथा नीची जाति की औरतें चाँदी के बनवाकर पहनती हैं। इनका वजन बीस ग्राम तक रहता है।

हंसुली : यह पहले काँसे की बनती थी अब चाँदी तथा ताँबे की बनती है। यह गले में पहनी जाती है। इसे बच्चों को भी पहनाया जाता है। जिससे (गले की हड्डी जिसे हंसुली बोलते हैं) वह अपनी जगह से नहीं हटती। इसका वजन दो सौ ग्राम से लेकर एक किलो तक होता है।

हाय : यह भी गले में पहनी जाती है इसका वजन पांच ग्राम से बीस ग्राम तक रहता है इसे पुतरिया भी कहते हैं। इस पर नौ देवियों के चिन्ह बने होते हैं। यह छोटे बच्चों को तथा शादी के समय दुल्हन को पहले यही पहनाई जाती है इसके बगैर दूसरा जेवर नहीं पहन सकती क्योंकि जो नौ देवियाँ बनी रहती हैं वह रक्षा के लिए होती हैं। यह चाँदी, सोने तथा गिलट की बनाई जाती है सभी प्रकार की जातियाँ पहनती हैं।

मटर माला : यह माला ही होती है जो सोने तथा चाँदी के मोतियों से बनी रहती है। इसके नीचे के हिस्से में लाकिट या हाय पहनी जाती है। इसे सवर्ण जाति के लोग पहनते हैं वजन दस से बीस ग्राम रहता है।

तिदाना : यह चाँदी तथा सोने का बनता है इसका वजन दस से बीस ग्राम तक रहता है यह गले में पहने जाने वाला जेवर है। एक पट्टी के ऊपर गोल गोल दाने लगे रहते हैं इसे मुस्लिम तथा सवर्ण औरतें ही ज्यादा पहनती हैं।

गुलुबन्द : यह सोने तथा चाँदी की बनती है वजन दस से बीस ग्राम तक रहता है इसको भी मुस्लिम तथा सवर्ण औरते ज्यादातर पहनती हैं।

हार : यह सोने का बना रहता है तथा वजन चालीस से साठ ग्राम तक रहता है। यह सवर्ण जाति के लोग पहनते हैं।

कनफूल : यह कानों में पहने जाने वाला जेवर है इसका वजन लगभग पांच ग्राम से बीस ग्राम तक रहता है। यह गिलट तथा चाँदी और सोने के बनते हैं। गिलट तथा चाँदी के कनफूल, काछी, लोदी, आहिरवार जाति की औरतें पहनती हैं।

बेंदी : यह चाँदी तथा काँसे और सोने की बनी होती है यह माथे के ऊपर बीच की माँग के सहारे पहनी जाती है। इसका वजन पांच ग्राम होता है। यह सभी जाति की औरतें पहनती हैं।

टिकली : यह भी माथे पर धागे के सहारे बाँधी जाती है। यह गिलट, चाँदी तथा सोने की बनी रहती है। वजन चार या पांच ग्राम रहता है। इसको काछी, आहिरवार जाति की औरतें ज्यादा पहनती हैं।

झुमकी : यह चाँदी तथा सोने और गिलट की बनाई जाती है इसका वजन पांच ग्राम से पन्द्रह ग्राम तक रहता है। इसको सभी जाति की औरतें पहनती हैं। यह कान में पहना जाने वाला गहना है।

चूरा : यह गिलट तथा चाँदी के बनते हैं। वजन सौ ग्राम होता है तथा आदिवासी औरतें पहनती हैं। हाथ में पहना जाने वाला गहना है।

चुरिया : यह भी गिलट तथा चाँदी की चुरियां रहती हैं। वजन सौ ग्राम यह पालदार या किरकिरादार होती है। इसको भी काछी एवं आदिवासी स्त्रियाँ पहनतीं हैं। हाथ में पहना जाने वाला गहना है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

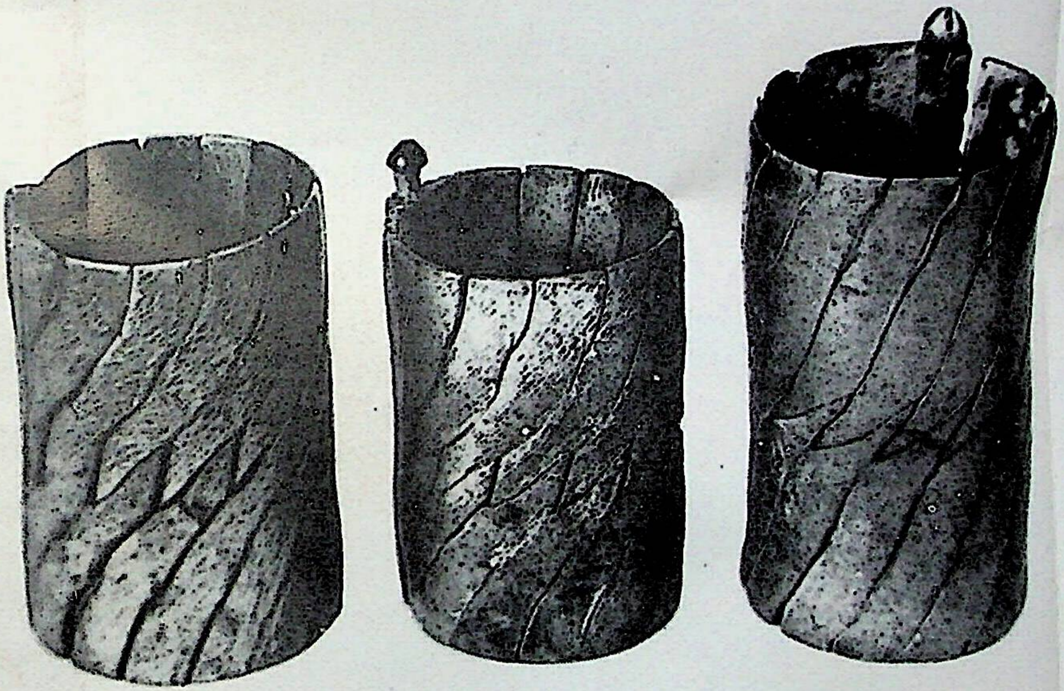

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

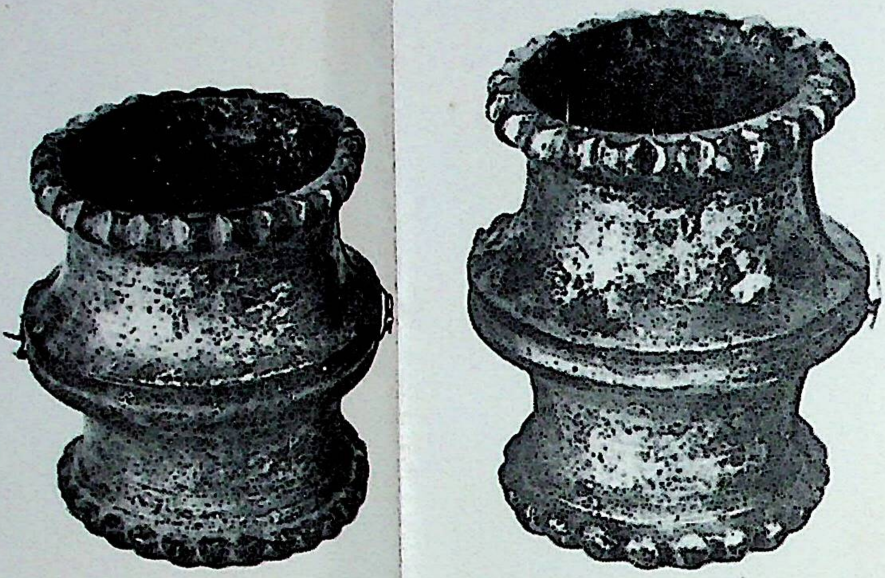

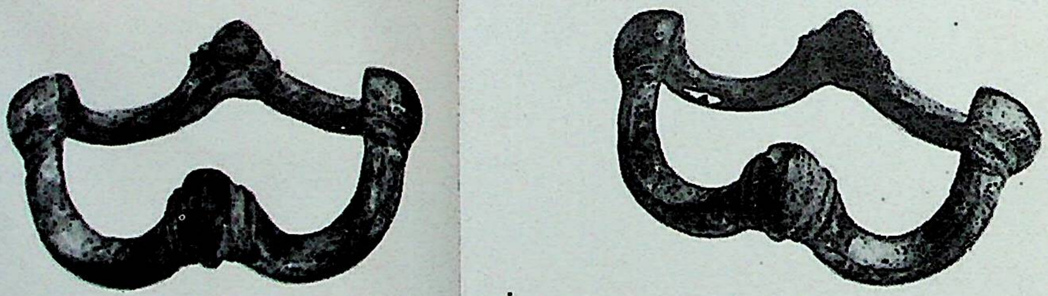

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

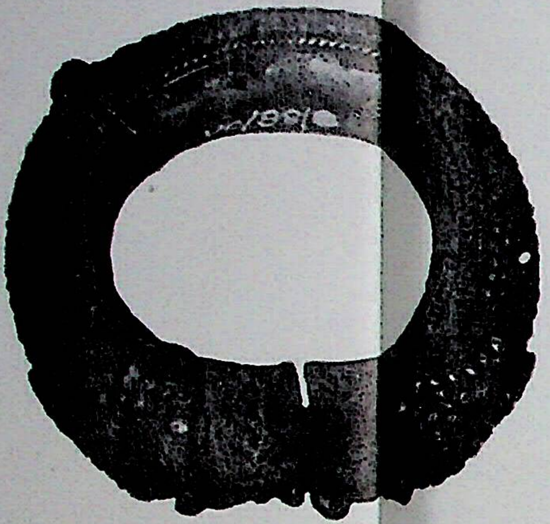

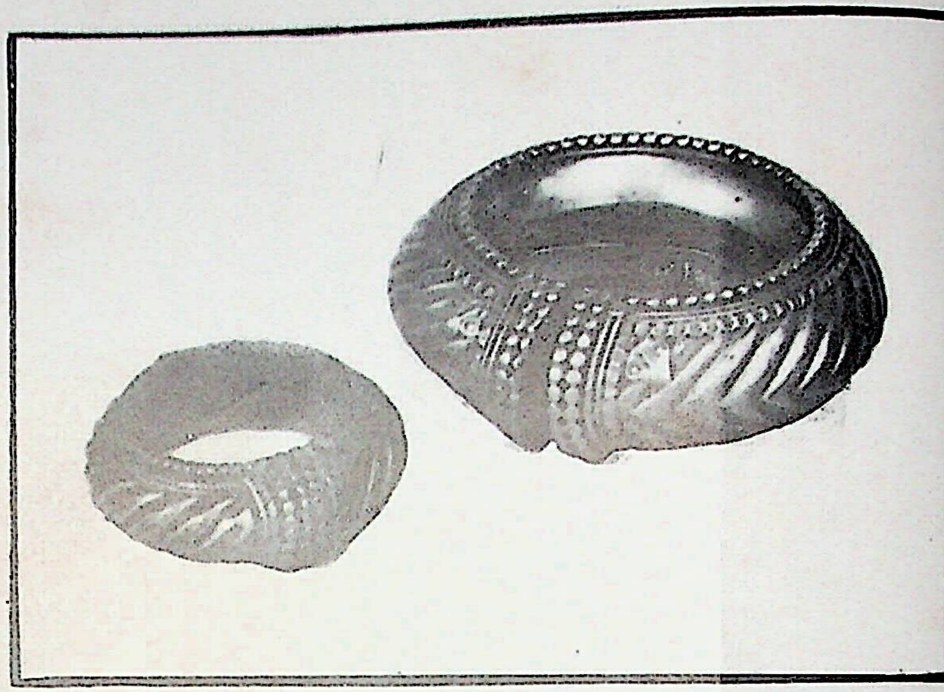

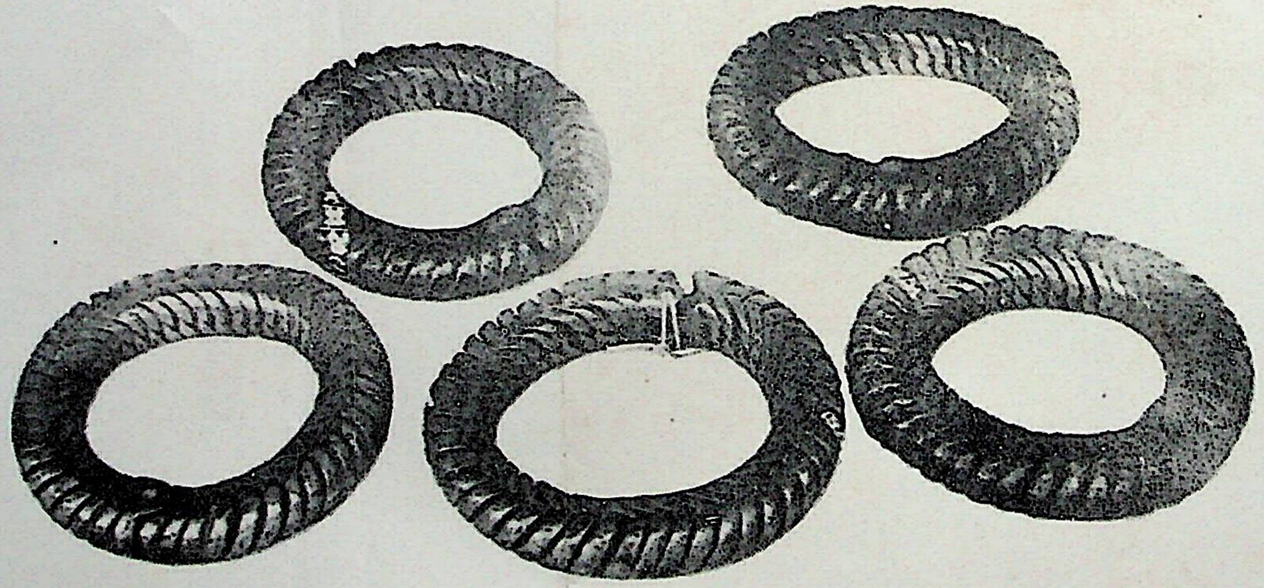

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कंगन : यह गिलट के तथा चांदी के बनते हैं। वजन अस्सी से सौ ग्राम होता है इसे लोदी, ठाकुर, काछी जाति की औरतें पहनती है। हाथ में पहना जाने वाला गहना है।

कंगन : यह भी चांदी तथा गिलट के बने रहते है तथा हाथों में पहने जाते हैं। इसका वजन भी सौ ग्राम रहता है। छोटी जाति के लोग गिलट के तथा बड़ी जाति के लोग सोने के पहनते हैं।

बेंल चूड़ी : यह हाथों में पहने जाने वाला जेवर है। इसका वजन लगभग सौ ग्राम रहता है। छोटी जाति के लोग चांदी के तथा बड़ी जाति के लोग सोने के पहनते हैं।

छन्नी : यह चांदी और गिलट की बनी रहती है यह हाथों में पहनी जाती है। वजन लगभग सौ ग्राम रहता है। छोटी जाति के लोग चांदी के तथा बड़ी जाति के लोग सोने के पहनते हैं।

गजरा : यह गिलट तथा कांसे की बनी रहती है। इसका वजन एक सौ पचास ग्राम रहता है। इसे छोटी जाति की औरतें पहनती हैं। काछी, अहिरवार आदिवासी आदि। हाथ में पहना जाने वाला गहना है।

परीसन : यह चाँदी के ही बनते हैं। इसका वजन दो सौ से दो सौ पचास ग्राम तक रहता है। इसे मुस्लिम औरतें ज्यादा पहनती है। हाथ में पहना जाने वाला गहना है।

कोचिया : यह गिलट तथा चाँदी की बनती है। इनका वजन लगभग सौ ग्राम से एक सौ पचास ग्राम रहता है यह लोदी, काछी, ठाकुर अहिरवार जाति की औरतें पहनती हैं। यह हाथ में पहना जाने वाला गहना है।

टड़िया : यह भी हाथों में पहना जाने वाला जेवर है इसका प्रचलन लगभग बन्द सा हो गया है। यह कांसे तथा गिलट की बनती है इसका वजन लगभग दो सौ से दो सौ पचास ग्राम तक होता है तथा इसे आदिवासी औरतें पहनती हैं।

नौगरी : यह पैरों की उंगलियों में पहना जाने वाला जेवर है। यह करंसी, गिलट की बनती है, इनका प्रचलन बन्द सा हो गया है।

अंगूठा : यह पैरों के अंगूठे में पहनी जाती थी अब इनका चलन बन्द हो गया है। यह कांसे तथा पीतल की बनती थीं इसका वजन सौ ग्राम से दो सौ ग्राम होता है।

छला-छल्ली : यह आदिवासी जाति की औरतें पैरों की उंगलियों में पहनती हैं वजन बीस से तीस ग्राम होता है इनका अब प्रचलन बन्द हो गया है।

चूरा ऐंठी : यह गिलट तथा चांदी के बनते हैं। यह हाथों में पहनी जाती हैं। नीची जाति के लोग गिलट तथा ऊंची जाति के लोग चांदी के बनवाकर पहनते हैं।

चूरा इमरती : यह गिलट तथा चांदी के बनते हैं। वजन लगभग सौ से एक सौ पचास ग्राम होता है औरतें इन्हें हाथों में पहनती हैं। नीची जाति के लोग गिलट तथा ऊंची जाति के लोग चांदी के पहनते हैं।

विधि

मिट्टी का गाबा : इस प्रकार की ढलाई की विधि में सबसे पहले किसी भी प्रकार के सामान या मूर्ति बनाने के लिए उसका रफ ढांचा बनाते हैं। यह ढांचा पीली मिट्टी तथा गोबर मिलाकर बनाते हैं लगभग साठ प्रतिशत पीली मिट्टी तथा चालीस प्रतिशत गोबर मिलाकर पानी के साथ अच्छी तरह मिलाते हैं तथा जिस कृति को बनाना है उसकी रफ आकृति बनाते है इसे गाबा कहते हैं यह गाबा मिट्टी का बनाकर दो-तीन दिन सूखने के लिए रख देते हैं जब वह अच्छी तरह सूख जाता है तब उसको रेती से साफ करके सुडौल बनाते हैं। अब यह गाबा मोम चढ़ाने लायक हो जाता है।

मोम बनाना : इस कार्य में शुद्ध मधुमक्खी का मोम भी प्रयोग कर सकते हैं। लेकिन यह मंहगा पड़ता है। इसलिए सुनार लोग जो मोम उपयोग करते हैं उसको निम्न प्रकार से बनाते हैं।

सबसे पहले रेजिन या रहार को पीस लेते हैं तथा कपड़े से छान लेते हैं। इसके बाद मधु-मक्खी का मोम चार सौ ग्राम तथा दो सौ पचास ग्राम तेल अण्डी का या सरसों तेल मीठा आदि भी प्रयोग कर सकते हैं। तेल और मोम को किसी बर्तन में पिघलाते (गर्म) करते हैं। जब वह पिघल जाता है तो एक किलो रहार रेजिन के छने हुए चूर्ण में इसको डालते हैं और फिर अच्छी तरह मिक्स करते हैं। इस प्रकार यह मोम तैयार हो जाता है। इसको किसी भी प्रकार से प्रयोग कर सकते हैं।

मोम चढ़ाने की विधि : यदि कोई कृति छोटी है तो उसे मोम का ही बनाते हैं क्योंकि मिट्टी का गाबा तो इतना छोटा बन नहीं पाता परन्तु बड़ी मूर्ति बनाने के लिए पहले गाबा बना लेते हैं इस गाबे पर मोम की पतली पर्तें (जो कि मोम पीट-पीट कर बनाते हैं) चढ़ाते हैं। गाबे पर मोम के तार भी चढ़ा सकते हैं। इसके बाद किसी भी मूर्ति के छोटे-छोटे अंग बनाकर जैसे आँख, नाक, कान, हाथ, पैर आदि मोम का बनाकर लगाते हैं। इसको गर्म करके लगाना पड़ता है तथा जो भी डिजाइन मोम में निकालनी हो वह बना लेते हैं। जब मोम की कृति तैयार हो जाती है तो इसके बाद उस पर मिट्टी चढ़ाते हैं।

मिट्टी चढ़ाने की विधि : यह भी अक्सर पीली मिट्टी ही रहती है। इसमें भी गोबर मिलाते हैं साठ प्रतिशत जमा चालीस प्रतिशत के हिसाब से यह मिट्टी अधिकतर किसी नाले के किनारे की ही उपयोग करते हैं क्योंकि उसमें थोड़ी सी रेत मिली रहती है। इसको कपड़े से छानकर गोबर मिलाकर पानी के साथ सानकर तैयार करते हैं तथा मोम की बनाई गई कृति को मिट्टी से पूरा ढंक कर देते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सोट या रनर लगाना : दो दिन बाद जब पहली मिट्टी सूख जाती है तब मूर्ति के एक सिरे से ऊपर की मिट्टी की पर्त हटाकर ब्रुश से साफ करते हैं जब तक कि मोम की पर्त न निकल आये। इसके बाद मोम की एक डण्डी बनाकर निकले हुए हिस्से से जोड़ देते हैं तथा इस डण्डी को मिट्टी से बन्द कर देते या इसके ऊपर पीली मिट्टी की पर्त चढ़ा देते हैं।

खाप की मिट्टी चढ़ाना : जब मूर्ति के ऊपर मिट्टी की पर्त सूख जाती है तो इसके ऊपर एक दूसरी मिट्टी की पर्त लगाते हैं। इस प्रकार मिट्टी में काली मिट्टी तथा रेत को पचास प्रतिशत जमा पचास प्रतिशत के अनुपात में मिलाकर पानी से सान कर मूर्ति पर चढ़ाते हैं। यह मिट्टी काफी मोटी लगाई जाती है। इसके लगाने से साँचे को सहारा और मजबूती मिलती है तथा इसमें जो रेत मिली रहती है जोकि उष्मा की सुचालक होती है। इस कारण साँचे को जल्दी से जल्दी गर्म होने में सहायता करती है। इसको चढ़ाने के बाद साँचे को दो दिन तक सूखने देते है। जब यह मिट्टी ठीक प्रकार से सूख जाती है।

गरमा रखना : जब खाप मिट्टी ठीक प्रकार से सूख जाती है तो जिस तरफ साँचे में सोट या रनर लगा रहता है उसको केन्द्र मानकर साँचे के ऊपर एक कप (प्याले) जैसी आकृति बना देते हैं जिसे गरमा कहते हैं। यह गरमा चिकनी मिट्टी साठ प्रतिशत तथा चालीस प्रतिशत रेत मिलाकर बनाया जाता है। इसको सूखने में लगभग दो दिन का समय लगता है।

मोम निकालने की विधि : जब गरमा अच्छी तरह से सूख जाये तब साँचे को गरमा ऊपर की तरफ रखकर आग में गर्म होने रख देते हैं। जब साँचा गर्म होता है तो अन्दर का मोम पिघल जाता है तथा सोट रनर जोकि गरमा का केन्द्र है उस रास्ते से मोम बाहर निकल आता है। मोम को किसी भी पानी भरे बर्तन में इकट्ठा कर सकते हैं।

इस प्रकार निकाले हुए मोम को दो बार भी प्रयोग किया जा सकता है। अब साँचा पूर्ण रूप से खाली हो जाता है इस स्थिति में इसको बड़ी सावधानी से उठाना चाहिए। यदि अन्दर का गावा हिल जाता है तो सारी कृति बिगड़ जाती है फिर वह मेटल में सही नहीं ढल सकती।

साँचे को घरिया से जोड़ना : इस स्थिति में साँचा डालने के पूर्ण रूप से तैयार हो जाता है। अब किसी क्रेसी बल या घरिया में पीतल या तांबा रखते हैं। पीतल को इस हिसाब से रखा जाता है जैसे किसी साँचे में एक सौ ग्राम मोम लगा तो घरिया में एक किलो ग्राम पीतल रखते हैं। क्योंकि मोम का आठ गुना भार पीतल में ढलता है। इसके बाद घरिया के ऊपर गरमा को रखकर चिकनी मिट्टी साठ प्रतिशत जमा चालीस प्रतिशत रेत को मिलाकर मिट्टी बनाते हैं तथा घरिया के ऊपरगरमा रखकर इस मिट्टी से जोड़ देते हैं।

ढालना : जब यह जोड़ सूख जाता है तो इस साँचे को भट्टी के अन्दर रख देते हैं तथा लगभग तीन घण्टे तक भट्टी में ही गर्म होने देते हैं जब पीतल पिघल कर पानी जैसी स्थिति में आ जाती है तो साँचे को भट्टी से निकालकर उल्टा कर देते हैं जिससे पिघली हुई पीतल मोम की खाली जगह में भर जाती है और फिर साँचे को ठण्डा होने के बाद तोड़ देते हैं जिससे मोम की बनी हुई आकृति पीतल में ढलकर बाहर निकाल लेते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संचय

सरगुजिया लोक पहेलियां

बजरंग बहादुर सिंह

सरगुजा के लोक साहित्य में लोक गीतों, कहावतों, लोक नृत्यों, लोक विश्वास एवं लोक रीति के साथ ही पहेलियों का अपना महत्व है, बानगी है। सरगुजिया में पहलियों को बुझौवल के अर्थ में लिया जाता है। पहेलियों को सरगुजिया लोक साहित्य में धांधा-धंधा बुझउनी के नाम से जाना जाता है। सामान्यतः इसका प्रयोग लोकरंजन के साथ ही बुद्धि परीक्षण के लिए किया जाता है। पहेलियों लोक जीवन में हाजिर जवाबी को मापने का पैमाना हैं। प्रथम पहेली में "धांधा" शब्द का प्रयोग भी हुआ है :—

1. धांधा हैं धंधाय रह, पुड़िया में बंधाय रह।
   इस पहेली को बूझते रहो। कौन सी वस्तु पुड़िया जैसी बंध जाती है। (लाल चींटी)
2. मोर घर कर पहरादार
   नई खाय, नई पीये
   जुग-जुग तलक जिये।
   मेरे घर का पहरेदार, न कभी खाना खाता है और न पानी ही पीता है परन्तु लम्बे समय तक जीवित रहता है। (किवाड़)
3. छोटा सा काला घर
   घूमत रहेल इधर-उधर।
   मेरे पास छोटा सा काले रंग का घर है जो कभी यहां, कभी वहां घूमता रहता है। (छाता)
4. मरे वाला कर चायर टांग
   डोहे वाला कर एको नहीं
   देखे वाला कर मुण्डी नहीं।
   मरने वालों के चार पैर थे। लेकिन उसे ढोकर ले जाने वाले के एक भी पैर नही है। इसे जो देख रहा था उसके पास सिर नहीं था। (मेंढ़क, सांप, केकड़ा)
5. एगोट फेड़ कर ऐकेच गोट पतई।
   एक वृक्ष में एक ही पत्ता होता है। (झंडा)
6. पायंच भाई कर एगोट अंगना।
   पांच भाइयों के बीच में एक आंगन है। कहने का तात्पर्य पांच अंगुलियों के बीच में हथेली है। (पांच अंगुली और हथेली)
7. दुई बकरा कर एकेच अंडा।
   जेहर नई बूझे तेला दुई डंडा॥
   दो बकरों के पास एक ही अण्डा है। इसे जो नहीं बूझेगा वह दो डंडा खाने का हकदार होगा। (तराजू के पलड़े और बांट)
8. उपरे खोंता, तरी अंडा।
   घोंसला ऊपर हो और उसके नीचे अण्डा हो। (महुआ फूल)
9. भीतरे गूदा, बहरी पोटा।
   भीतर गूदा हो और उसके बाहर अंतडी हो। (बटेर पक्षी)
10. गिरल पैना बीछब नहीं।
    जाल बइला फिराब नहीं।
    फुल डोहडी टोरब नहीं॥
    गिरे हुए डंडे को नहीं उठाऊंगा। जाते हुए बैल को नहीं लौटाऊंगा और फूल तथा उसके छोटे फल को नही तोड़ूंगा। (सर्प, बाघ, बेर फल)
11. देखेल तेहर धरेल नहीं।
    धरेल ओहर आघायेल नहीं।
    जो किसी खाने योग्य वस्तु को देखता है वह उसे पकड़ता नहीं है। जो खाने योग्य वस्तु को पकड़ता है उसका पेट नहीं भरता। (आंख और हाथ)
12. सद्-सद् घोरना, रट-रट बंधना।
    सटा-सटा टटरा बंधा होता है और जल्दी-जल्दी कसकर बांधा जाता है। (कंघी-आदिवासियों की ककही)
13. उपरे आगी, तरी अंधन।
    जहां पर ऊपर आग हो नीचे तरल पदार्थ हो। चावल पकाने के लिए चूल्हे पर पानी रखने को "अंधन" रखना कहते हैं। (दीपक)
14. बिन पोटा कर बाघ नरियाय।
    बिना अंतडी के बाघ चिल्ला रहा है।
    (मांदर, आदिवासी वाद्य)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

15. ओही जग रहिबे रे थावक-ठुइया।
मोयंजात हों लंका।
ऐ थावक-थूबक निशान, तुम वहीं रहना मैं लंका जा रहा हूँ।
(पैर के चिन्ह)

16, आय गुंगू, जाय गुंगू।
आय पानी ला डेराय गुंगू।
गुंगू नाम की वस्तु मनुष्य के साथ आती-जाती रहती है।
परन्तु पानी से डरती है। (चमड़े का जूता)

17. एगोट जंतू हर
बिहाने चार गोड़े
मझीने दुई गोड़े
सांझ जुआर तीन गोड़े रेंगेला।
एक जीव सुबह चार पैर से, दोपहर में दो पैर से, शाम को
तीन पैर से चलता है। (मनुष्य-बालक, जवान, वृद्ध)

18. उजर खेत, करिया नांगर॥
सफेद खेत में काले रंग का हल चलता है।(कागज और कलम)

19. हांथ बूने, मुंह लोरे॥
हाथ से बोआई की जाती है और मुंह से लवाई की जाती है।
(लिखना और पढ़ना)

20. बीच समुन्दर ठेका खापल॥
जल के बीच में काले रंग का बर्तन औंधा हुआ है। (कछुआ)

21. एगोट गीना मछरी हर
बड़े-बड़े तलवा ला बांधेल॥
एक पतली सी गीना नाम की मछली, बड़े से बड़े तालाब को
बांध देती है। (सुई और धागा)

22. एगोट डांक्दर हर आयेल
बिगर बोखार सूई लागायेल
लेकर चले जायेल॥
एक डॉक्टर आता है बिना ज्वर के इंजेक्शन लगाता है और
चला जाता है। (मच्छर)

23, चघेल नाक उपर, धरेल कान ला
बतावा ओहर हवे, कौन शैतान गा॥
वह कौन शैतान है जो नाक के ऊपर चढ़ता है और कान को
पकड़ता है। (चश्मा)

24. भगवान कर देहल मूंड उपरे॥
भगवान का दिया हुआ, सिर के ऊपर है। (चंद्रमा)

25. एगोट चीज अइसे होयल
जेला सब अदमी खायें॥
एक वस्तु ऐसी होती है जिसे सभी मनुष्य खाते हैं।
(शपथ)

26. एगोट जीव अइसे अहाय
नईं ओकर हाड़ा अहाय
नईं ओकर पसली॥
एक जीव ऐसा है जिसके शरीर में हड्डी-पसली कुछ नहीं है।
(केंचुआ)

27. सगरो गांव के एकेच गोट चद्दर॥
सारे गांव की एक ही चादर है। (बादल)

28. बीस आदमी कर मूड़ ला देहिन।
नईं लहू बहिस, नईं ओमन मरिन॥
बीस आदमियों का सिर काट दिया गया। लेकिन न तो
खून ही बहा और न तो वे मरे ही। (नाखून काटना)

29. एगोट डब्बा है बत्तीस गोट दाना।
ऐला जे बूझहो कहा ही सयाना॥
एक डिब्बे में बत्तीस दाना रखा जाता है। इसे जो बूझेगा
वह चतुर कहलायेगा। (बत्तीस दांत)

30. टेढ़ा-तिरछा दिखेल धार।
अमिरकापुर ले पहुँचेल बिहार॥
वह वस्तु देखने में टेढ़ी-तिरछी है लेकिन अम्बिकापुर से
बिहार पहुँच जाती है। (सड़क)

31. एगो राजा के खूबे सुघर रानी।
पूंछी कर डहर ले ओहर पियेल पानी॥
एक राजा की बहुत सुन्दर रानी है लेकिन वह पूंछ से
पानी पीती है। (दीपक)

32. ठडहोय रहेल तेघीन तो ठड़होय रहेल।
बइठेल तेघीन हूँ ठड़होय रहेल॥
वह खड़ा रहता है तब तो वह वस्तु खड़ी रहती ही है।
परन्तु जब वह बैठ जाता है तब भी वह वस्तु खड़ी रखती
है। (सींग)

33. राती कर समय हें मोती नियर चमकेल।
बेर हर उगेल तेकर मेटाय जायेल।
रात को वह मोती के समान चमकती है और सूर्योदय होने
पर समाप्त हो जाती है। (ओस कण)

34. लोहा टूटे, सील हर टूटे।
ओ चीज हर कभ्भो नईं टूटे॥
लोहा और पत्थर टूट जाता है लेकिन वह वस्तु कभी टूटती
नहीं है। (परछांई)

35. चार गोट फेंड़ अहाय इते-उते।
ओकर फर हर गिरेल एकी जगे॥
चार वृक्ष इधर-उधर हैं। परन्तु उसका फल एक ही जगह
गिरता है। (थन और दूध)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

36 एक चरई चट, ओकर पांख बोलेल पट्ट।
ओकर खोलरी ओदार, ओकर मांस मजेदार ॥
एक चिड़िया बोलती है चट और उसका पंख बोलता है पट्ट।
उसकी खाल निकालने पर मांस मीठा होता है। (ईख)

37. बिना डंटा के भंटा फरे ॥
बिना डंडे का बैंगन फलता है। (अण्डा)

38 ठाट-कोरई जरि जाय।
ओकर बंधना हर रहि जाय ॥
ठाट और कंडी जल जाने के बाद भी उसको बांधने की रस्सी बची रह जाती है। (नाम)

39. दुनिया में सब कर नांव एकेच गोट।
संसार में सभी का एक ही नाम होता है। (परछांई)

40. टाँग उठाय के पेल।
पैर उठाकर डालो। (जूता पहनना)

41. लाखों जीव मार के ओहर पड़े हे उपास।
लाखों जीवों को मारने पर भी उसका पेट खाली है। (मछली मारने का जाल)

42. एगोट बुढ़िया विहानेच घिरलेल।
एक बुढ़िया सबेरा होती ही घिर्राई जाती है घसीटी जाती है। (झाड़ू)

43. आगू मारे खड़े–खड़ा
पाछू मारे सुताय के
झिमिर–झिमिर पानी बरिसे
दूनो हाथ ला डोलाय के ॥
पहले खड़े-खड़ा मारा जाता है फिर सुला के मारा जाता है पानी छिड़क कर दोनों हाथ को डुलाया जाता है।
(सिल पर लोढ़े से हल्दी पीसना)

44. खुर भींजें, नई पगहा
नदी नाके गदहा ॥
एक गदहा नदी पार कर जाता है परन्तु नदी के पानी में उसका खुर और पगहा नहीं भीगता है। (मकड़ा)

45. घाम हें जनम लेहेल
छाया हें मुरझायेल
अउर बइहर लागेल
ते घरी मरि जायेल ॥
धूप में वह जन्म लेता है। छाया में मुरझा जाता है। हवा लगने से वह मर जाता है। (पसीना)

46. खुंटरा हें फ़ूल–फूले
जुग–जुग रहि जाय ॥
खूँटे में फूल खिलता है। वह युगों-युगों तक वैसा ही रह जाता है कभी मुरझाता नहीं है। (गोदना)

47. खांधे आय, खांधे जाय।
नेग–नेग हें, मारे जाय ॥
वह कंधे पर चढ़कर आता है और कंधे पर चढ़कर जाता है।
उत्सव के समय पर पीटा जाता है। (नगाड़ा)

48. बइला बइठिस अहाय,
पगहा हर चरे गइस ॥
बैल बैठा हुआ है। परन्तु उसके गले में बंधा पगहा घास चरने गया है। (कुम्हड़ा)

49. सब झन घर ले हिंकफिन
तो बुढ़रा हर लटक गइस ॥
सभी लोग घर से निकल गये तो एक बुढ्ढा लटक गया। (ताला)

50. भूंजल चुटिया रूखे चघे ॥
आग में भुंजी डुबी काली वस्तु वृक्ष पर चढ़ती है। (लकड़ी काटने की टांगी)

51. आवे हवा उडे मांखी, सिरो नहीं।
दूनो पखुरा में आंखी, सिरो नहीं ॥
हवा चलने से मक्खी उड़ती है। वह कौन जीव है जिसके सिर नहीं होता परन्तु दोनों कंधे पर आंख होती है। (केकड़ा)

52. ठप करे, ठुप करे, कपार कोंह फोरेल।
ठेंगर असन, बोगर असन, रात काहे डोलेल ॥
ठप-ठीप की आवाज से मेरा सिर क्यों फोड़ते हो। लेकिन तुम काटे गये लकड़ी के टुकड़े के समान रात में क्यों घूमते हो। (महुआ टपकना और सांप)

53. काटल खुंटरा कभों नईं पलहोथे ॥
एक बार काटा गया खूंटा कभी पनपता नहीं है। (नाभि)

54. जहाँ ले नायर तहाँ ले फर ॥
जहाँ तक लता गई है, वहां तक फल लगा है। (मछली)

55. सात चराई, सात रंग
डारे बइठिन तो एके रंग ॥
सात चिड़िया हैं, जिनके रंग भी सात है लेकिन जब एक डाल पर बैठती हैं तो एक ही रंग की हो जाती हैं। (पानबीड़ा)

56. पंडरा बोकरा चचेरा डेगे ॥
सफेद रंग का बकरा टाटी को पार करता है। (चूल्हे की राख)

57. पांच भाई कूदिन, दुई भाई गिराइन ॥
पांच भाई दौड़े। परन्तु दो भाइयों ने ही उसे पटका। (नाक पोंछना)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

58. चायर भाई हें चायर गो डांग कुसियार लेहिन।
तो चूल्हे बर भिड़िन, तो दू दू डांग होइस ॥
चार भाई थे। चारों ने चार डांग गन्ना लिये। जब उसे चूसने बैठे तो एक-एक के हिस्से में दो-दो डांग गन्ना पड़ा।
(चारपाई का खूंटा और पाटी)

59. एगोट खेते दू गोट ढ़ेला ॥
एक खेत में दो ढेला पड़े हैं। (चांद और सूर्य)

60. एगोट बुढ़रा कर पगड़ी ला नापे नईं सकाय ॥
एक बुड्ढे के पगड़ी की लम्बाई को नापा नहीं जा सकता।
(रास्ता)

61. एगो हांड़ी में दुई रंग कर पानी ॥
एक हण्डी में दो रंग का पानी भरा रहता। (अण्डा)

62. कोकी गाय दह पेलाय ॥
टेढ़े सींग वाली गाय तालाब में कूद जाती है।
(मछली मारने की बंशी)

63. कोकी गाय उरूआय, लाली गाय बलाय ॥
टेढ़े सींग वाली गाय डराती है परन्तु लाल रंग की गाय अपने पास बुलाती है। (बेर के कांटे और फल)

64. एक बट खात जाय, एक बट हागत जाय ॥
एक तरफ खाती है और दूसरी तरफ गिराती है।
(चक्की पीसना)

65. फांदे घनी एगोट, ढीले घनी दू गोट ॥
उसे पकड़ा जाता है तो एक रहता है जब छोड़ा जाता है तो दो हो जाता है। (दातौन)

66. काकर रस ले हाथी मातेल
तेलिया लानेल घानी
ये धांधा ला बूझवे
तेकर लानेक जावे पानी ॥
किसके रस से हाथी मतवाला होता है। किस वस्तु का तेली तेल निकलता है। इस बुझौवल को बूझने के बाद तुम पानी लेने जाना। (महुआ और कोइना)

67. बाप के नांव ओही बेटा के नांव
नाती के नांव काहीं ओर
ऐ धांधा ला बूझवे
तब तें उठावे कौर ॥
पिता का नाम, वही बेटे का नाम; पोते का नाम कुछ दूसरा है। इस बुझौवल को बताने के बाद ही थाली से कौर उठाना। (महुआ और कोइना)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुवाद

माड़िया हत्या एवं आत्म हत्या

ले. वेरियर एल्विन
अनु. निरंजन महावर

अध्याय–९

पारिवारिक संबंधियों के बीच अपराध

केवल आदिवासियों में नहीं वरन भारत में रहने वाले सभी लोगों में पारिवारिक सम्बन्धों का महत्व पश्चिम के बिखरे हुए एवं व्यक्तिवादी समाज की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। लोग बाग साथ-साथ रहते हैं और वस्तुओं का मिलजुलकर उपभोग करते हैं वे एक दूसरे पर अंकुश रखते हैं तथा एक दूसरे के मामलों में हस्तक्षेप करते हैं, वे आपस में हंसी मजाक या निषेध द्वारा निर्धारित सम्बन्धों में बंधे होते हैं, ऐसी सन्निकटता कभी-कभी विनाशकारी सिद्ध होती हैं। नीचे दर्शाई गई सारिणी में ऐसे सम्बन्धों के परिणाम स्वरूप हुई हत्याएँ दर्शायी गई हैं।

सारिणी अठारह

एक से प्रकरण में १०६ जनों की बलि का निदर्शन

पतियों द्वारा पत्नियों की हत्या	१८
पत्नियों द्वारा पतियों की हत्या	३
दामादों द्वारा श्वसुरों की हत्या	५
दामादों द्वारा सास की हत्या	३
माता-पिता द्वारा छोटे बच्चों की हत्या	६
भाइयों द्वारा भाइयों की हत्या	९
पुत्रों द्वारा पिताओं की हत्या	२
पुत्रों द्वारा माताओं की हत्या	१
बहनोइयों द्वारा सालियों की हत्या	३
पिता द्वारा पुत्र की हत्या	१
हत्या के अन्य मामले जिनमें संलग्न लोग आपसी रिश्तेदार	१०

किसी भी माड़िया युवक और उसकी पत्नी के लिए विवाह सूत्र जीवन जीने हेतु संपूर्ण भागीदारी होता है। और वह मात्र बच्चे पैदा करने हेतु स्थापित किया गया सम्बन्ध नहीं होता। पति एवं पत्नी मिलकर किसी भी सामान्य भारतीय ग्रामीण दम्पति की अपेक्षा काफी अधिक जीवन मिलकर गुजारते हैं। वे खेतों पर मिल-जुल कर काम करते हैं। वे लकड़ी काटने जंगल में जाते हैं। वे साथ बैठकर भोजन करते हैं। वे साथ बैठकर लांदा (चाँवल की शराब) पीते हैं। यहाँ तक कि स्त्रियाँ अंत्येष्टि कर्म में भी शामिल होती है और मृतक के स्मारक स्तम्भ के निर्माण में भी सहयोग प्रदान करती है। उनका दाम्पत्य जीवन सुखी एवं संयुक्त होता है, और उन पुरुषों के लिए शोकाकुल हो जाता है जो उसमें विघ्न पैदा करते हैं।

माड़िया पति एवं पत्नी सामान्य तथा सर्वप्रथम अपनी एक छोटी झोपड़ी बनाकर रहने लगते हैं। किन्तु इन लोगों में पिता या भाई के साथ संयुक्त परिवार का नियम भी विद्यमान है जो पैतृक प्रमुख होता है, और कभी भी तो गाँव के एक हिस्से में एक परिवार अपना संपूर्ण पाड़ा (मोहल्ला) ही बसा लेता है। ममेरे फुफेरे भाई बहनों के विवाह सम्बन्ध की संस्था के विद्यमान होने के कारण पारिवारिक सम्बन्ध घनिष्ट एवं निकट सूत्रों में बंधे होते है।

ऐसा सुखी पारिवारिक जीवन अनेक कारणों से प्रभावित होता है। जैसा कि हमने देखा है कि ऐसे दो सुखी जनों के जीवन में किसी तीसरे व्यक्ति का अवतरण ऐसा एक प्रमुख कारण होता है। परिवार में छोटे भाई की उपस्थिति ऐसा दूसरा कारण बन जाता है। जिसमें देवर के भाभी के साथ विशेष सम्बन्ध के कारण ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं। एक अन्य कारण विवाहित स्त्री के अपने मायके जाने की प्रथा भी है। और एक अन्य कारण पुरुषों की अतृप्त कामवासना भी होती है जो अत्यन्त जटिल एवं संदिग्ध आनन्द के कारण बहुविवाह में परिणत होती है।

एक सामान्य हिन्दू दम्पति में उम्र के अत्यधिक फर्क के कारण सम्बन्धों में उत्पन्न होने वाले तनाव की तुलना एक माड़िया दंपति से करने पर पता चलता है कि वे ऐसे बेमेल संबंधों से उत्पन्न तनाव से मुक्त होते हैं। परिवार संस्था में ही कभी-कभी ऐसी प्रवृतियां सक्रिय होती हैं जो अपराध हेतु उन्मुख करती है। संयुक्त परिवार आपसी सहिष्णुता एवं परिवार के सदस्यों के प्रति आपसी त्याग की भावना पर निर्भर होते हैं। संयुक्त परिवार के सुदीर्घ अनुशासन के परिणाम स्वरूप धैर्य का विकास होता है फिर भी इस धैर्य की अग्नि परीक्षा सदस्य के व्यक्तिवादी विलास के अवसर पर ही होती है। साथ ही पति-पत्नी की उम्र का अन्तर, श्वसुर की छोटी उम्र की वधु पर शोषण के अवसर प्रदान करता है, यहां तक कि क्रूरता पूर्ण शोषण के अवसर भी बाल विवाह का प्रचलन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विशेष रूप से ऐसी परिस्थितियों में जहां पति एवं पत्नी की उम्र में बहुत अधिक अन्तर हो अत्याचार को बढ़ावा देता है। कम उम्र की बहुओं पर क्रूरतापूर्ण अत्याचार के मामले भारतीय न्यायालयों में अक्सर प्रस्तुत किये जाते हैं।

सन् 1929 की एक घटना के अनुसार हैदराबाद के एक हिन्दू बुनकर ने जिसने एक छोटी उम्र की लड़की से विवाह किया था, उसे चक्की के पाट से पशु की भाँति बांध दिया था ताकि वह अनेक प्रयत्न करके भी भाग न सके। इसके परिणाम स्वरूप उसकी अन्त में मृत्यु हो गई।

उसी वर्ष एक अन्य घटना में एक छोटी उम्र की बहू ने कुँए में कूदकर आत्महत्या कर ली जिसे जबरदस्ती उसके पति के घर पहुँचाया जा रहा था।

पति एवं पत्नी

वेको चमरू द्वारा अपनी पत्नी दो बच्चों की हत्या तथा परिणाम स्वरूप उसे फांसी की सजा के द्वारा संपूर्ण परिवार का इस जगत से अन्त होना एक विचित्र और दुःखद वृतान्त बन गया। चमरू और उसकी पत्नी हिड़में के दो छोटे बच्चे थे, एक दस वर्ष की लड़की जिसका नाम लक्ष्मी था और एक छः वर्ष का पुत्र जिसका नाम हांदो था कुछ समय से उनके सम्बन्धों कटुता उत्पन्न हो गई थी। एक दिन चमरू ने अपनी पत्नी से चांवल छड़ने को कहा क्योंकि वह दशहरा पर्व पर महाराजा को अपनी ओर से भेंट प्रदान करना चाहता था, परन्तु उसकी पत्नी ने मना कर दिया। वह अलनार बाजार से बच्चों के कुछ मिठाइयाँ और सूखी मछली लेकर आया था। परन्तु जब उसने अपनी बेटी को वे चीजें दी तो हिड़में ने उसके हाथ से उन्हें झपटकर फेंक दिया। स्पष्ट रूप से वह स्त्री क्रोध के वशीभूत थी। उसने रात्रि के भोजन के लिए भी चांवल नहीं छड़ा और रात्रि में तथा दूसरे दिन सुबह भी भोजन नहीं पकाया। पति अपनी छोटी बेटी को लेकर नदी स्नान करने गया परन्तु वह बच्चे को जबरन साथ ले आई और जब वह घर वापस आया तो उसने पाया कि हिड़में दोनों बच्चों को साथ लेकर चली गई है। वह अपनी सहेली के घर चली गई थी और उसने उसे बताया कि वह अपने पति से भयभीत है तथा वहां वह दो दिन तक रही। इसके बाद वह दूसरी सहेली के घर पर जाकर दो दिनों तक रही और रात्रि में वहां से भी चली गई। और अन्त में वह चमरू के काका के घर पहुँची और उसने उसे सलाह दी कि वह अपने पति से झगड़ा न करे और घर वापस लौट जाये। वह वापस तो आ गई परन्तु घर से करीब एक सौ गज दूर बैठकर चमरू को चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगी कि वह उसे छोड़ देगी उसे अपने जानवरों को लाने जाना था और जब वह घर वापस आया तो उसने पाया कि उसकी स्त्री वहां नही थी। कुछ दिनों की उपरान्त वह अपने घर को एक लड़के के भरोसे छोड़कर अलनार बाजार गया। वहां उसकी भेंट एक मित्र से हुई और दोनों ने मिलकर मदिरापान किया तथा संध्या तक दोनों घर के लिए प्रस्थान नहीं किया। रास्ते में उन्हें दोनों बच्चों के साथ हिड़में मिली चमरू ने उसे डांटा-फटकारा और पूछा कि वह कहां थी और वह उसकी हत्या कर देगा। जब वे अपने गांव के पास के रास्ते पर पहुँचे तो चमरू ने अपनी पत्नी एवं बच्चों के साथ अपने घर चला गया और उसका मित्र दूसरे रास्ते पर मुड़ गया। चमरू ने घर पहुँच कर उस लड़के की उपस्थिति में जिसे वह घर पर छोड़कर गया था। हिड़में की पीठ पर कुल्हाड़ी के हत्थे से दो वार किये।

उस रात चमरू का एक पड़ोसी अन्य दिनों की भांति अपनी फसल की रखवाली करके घर वापस जा रहा था, तब उसने चमरू के घर में शोर सुना। वह उस ओर गया तो उसने चमरू को रोते हुए पाया जो अपनी पत्नी की लाश को बाहों में थामें दरवाजे पर बैठा हुआ था। चमरू ने बताया कि उसने अपनी पत्नी की हत्या कर दी है। वह पड़ोसी अन्य मित्रों को भी बुला लाया। जिनके समक्ष चमरू ने कहा कि उसने अपनी पत्नी एवं बच्चों को फांसी लगाकर हत्या कर दी है, क्योंकि वे उसे छोड़कर भाग गए थे। उसने कहा कि वह दूसरा विवाह करेगा और दूसरे दिन सुबह व वधु मूल्य हेतु चावल तथा बैलों हेतु कर्ज की की व्यवस्था में लग गया।

गांव के लोग घर के भीतर गए और उन्होंने मृत हुआ पाया तथा छोटे लड़के तथा लड़की की लाश को मकान की म्याल से झूलते हुए पाया दूसरे दिन वे पुलिस थाना गए और उन्होंने रपट लिखवाई कि चमरू के अलनार बाजार जाने पर उसकी अनुपस्थिति में हिड़में ने फांसी लगा ली और दोनों बच्चों ने भी उसका अनुकरण कर लिया।

यह स्पष्ट है कि चमरू ने गांव के लोगों से समझौता कर लिया था। उसने सोचा कि यदि उसने अपने अपराध को गांव वालों के समक्ष स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया तथा उचित दण्ड मुआवजे के रूप में दे दिया तो वे मामले को रफा-दफा करने हेतु सहमत हो जावेंगे और यह सुस्पष्ट है कि वे ऐसा करने हेतु तैयार भी हो गए थे परन्तु वे यह भूल गए थे कि पुलिस की जांच पड़ताल में इस मामले के कमजोर पक्ष उजागर हो जाएंगे। पुलिस तफसीश हेतु सीधी मौके पर पहुँच गई और उसने इस आत्महत्या के मामले में कुछ शंकास्पद असगतियाँ एवं अर्तविरोध पाए। उदाहरणार्थ लड़के के गले में बंधी हुई रस्सी की गांठ सरकने वाली गांठ नहीं थी, अतः उसकी मृत्यु फांसी के कारण दम घुटने से होना दुष्कर था। लड़की का गला जिस कपड़े से बांधा गया था वह इस कार्य हेतु अपर्याप्त था और उसके पैर चावल की ऐरी के समीप ही लटक रहे थे जिसका सहारा वह आसानी से ले सकती थी। डॉक्टरी की रपट ने इस बात को अमान्य कर दिया कि उन तीनों में से किसी की भी मृत्यु फांसी लगाने के कारण हुई थी फांसी द्वारा ऐसी मृत्यु के सामान्य लक्षणों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में गले का भिचना, गर्दन के एक ओर बंधन या रस्सी का निशान, खुली आंखें, बाहर निकली हुई जीभ, आपस में जकड़े हुए हाथ, मेरूदंड से पृष्ठवंश की हड्डी का पृथक होना आदि नहीं पाए गए। डॉक्टरी रपट में कहा गया कि तीनों जनों की मृत्यु का कारण छाती की घुटन थी, जिसका कारण मानसिक सदमा था। किन्तु इनकी मृत्यु का कारण फांसी कदापि नहीं थी।

जब ये तथ्य ग्रामीणों के समक्ष रखे गए उन्होंने यह देख लिया कि मामला पकड़ में आ गया, तब उन लोगों ने अपना रवैया बदल लिया, और तीन अलग-अलग समूह में जिनमें से कोई भी व्यक्ति चमरू से किसी कारण द्वेष नही रखता था ने सम्पूर्ण वृतान्त प्रकट कर दिया कि किस प्रकार उस रात्रि में चमरू ने यह बताया था कि उसने अपनी पत्नी एवं दोनों बच्चों की हत्या कर दी है। यद्यपि चमरू ने उस पर द्वेषग्रस्त होने का आरोप लगाया था। चमरू ने इस बात पर जोर दिया कि उसकी भेंट बाजार से वापस लौटते समय उसकी पत्नी एवं बच्चों से नहीं हुई जैसा कि गवाह ने बताया और जब वह देर रात्रि में घर पहुँचा तो वह अपनी पत्नी के नग्न शरीर से अंधेरे में टकरा गया जो छप्पर से लटक रही थी। उसने एक जलती हुई लकड़ी के प्रकाश में देखा कि उसने दोनों बच्चों को भी उसी दशा में पाया। उसने अपनी पत्नी के लटकते हुए नग्न शरीर को काट कर उसी वस्त्र में लपेट दिया जिससे उसने फांसी लगाई थी, और वह वहीं बैठकर रोते हुए आश्चर्य करने लगा कि उसे स्वयं भी आत्म-हत्या कर लेनी चाहिए।

इस बात के पर्याप्त सबूत मौजूद थे कि चमरू को अलनार बाजार से लौटते समय अपनी पत्नी तथा बच्चों से रास्ते में भेंट हुई और वह उनके साथ अपने घर गया। उसे उन सबके साथ उस लड़के ने भी देखा था जिसे वह चौकसी हेतु घर पर छोड़ गया था यह कोई भी नहीं जानता था कि सूर्यास्त से लगाकर देर रात्रि के बीच जिस समय उसके जोर-जोर से रोने की आवाज को पड़ोसी ने सुना था जो पूर्णरूप से ढोंग नहीं मानी जा सकती, क्या घटित हुआ यह स्पष्ट है कि उस बीच वह घर पर मौजूद था, और अन्य कोई व्यक्ति उसकी पत्नी एवं बच्चों का हत्या करने वहां नहीं आ सकता था। कुंठित काम वासना, आहत सम्मान, बच्चों के उनकी माँ के प्रति अनुराग से उपजी ईर्ष्या, भूख तथा थकान (हिड़मेंकी अनुपस्थिति में उसके लिए भोजन पकाने व घर का काम करने वाला कोई नहीं था) आदि सभी बातों ने उसे भयानक प्रतिहिंसा हेतु बाध्य कर दिया और उसे भी अन्त में फांसी पर झूलना पड़ा।

मरावी पकलू और दल्लो दोनों लगभग तीन वर्षो से विवाहित थे और उनके दो बच्चे हुए जो दोनों ही मर गए। उन दोनों का आपसी संबंध कुछ समय तक संतोषप्रद रहा। परन्तु बच्चों की मृत्यु के पश्चात उनमें मतभेद उभरने लगे, दल्लो सामान्य आदिवासी स्त्रियों के स्वभाव के प्रतिकूल मंदकाम स्त्री थी जो एक ओर तो अपने पति को पूर्ण मैथुन भोग में असहयोग करती थी और दूसरी ओर वह उसके प्रति ईर्षालु थी तथा उस पर अपना अधिकार भी बनाए रखना चाहती थी। विवाह के दो वर्ष बाद वह अपने एक काका के घर दिलमिली बिना पर्याप्त वस्त्रों के ही चली गई, और उसने लज्जा स्वरूप मात्र एक पटका ही धारण किया हुआ था। उसने वहां बताया कि उसे उसके पति ने पीटकर घर से निकाल दिया है। एक अन्य वृतान्त के अनुसार वह दिलमिली में पूरे एक वर्ष तक रही। पलकू के कथनानुसार वह उसे एक सप्ताह बाद अपने साथ घर ले आया। मेरे विचार से यह काम ही सही है। परन्तु इस बात की काफी संभावना है कि दल्लो ने इसके पश्चात पूरे एक वर्ष तक उसके साथ पत्नी के रूप में रहना अस्वीकार कर दिया हो।

पकलू का घर मुतनपाल के तीन तीन घरों एक छोटे से पाटे में था जो चट्टानों और वनों से आच्छादित था। उनमें से एक वागे नामक एक विधवा का था जिसमें उसकी विधवा बेटी जिम्मे उसके साथ रहने लगी थी। जिम्मे एक आकर्षक युवती थी और दल्लो और उसमें घनिष्ठ मित्रता हो गई थी, वे दोनों ही साथ-साथ फल पत्तियाँ व फूट (कुकुरमुत्ते) एकत्रित करने जाने लगी जैसे-जैसे दल्लो अपने पति की ओर यौन भावना से और अधिक उदासीन होने लगी वह रोजाना ही रात्रि में जिम्मे के घर पर जाकर सोने लगी। इसका परिणाम वही हुआ जिसकी अपेक्षा थी। अपनी पत्नी द्वारा परित्यक्त पलकू पत्नी की सहेली से प्रेम करने लगा। जुलाई १९३९ की घटना है एक दिन पलकू और जिम्मे ने अपने पाड़े से आधा मील दूर चटानों की गुफा में मिलने की योजना बनाई। उस दिन दोपहर में एक पड़ोसी ने पलकू को उस ओर जाते देखा और उसके कुछ समय बाद जिम्मे को भी उसके पीछे-पीछे जाते देखा। परन्तु उसे विस्मय तब हुआ जब उसने दल्लो को भी टोकरी हाथ में लिये उसी दिशा में आते पाया।

इस्तगासा (अभियोजन) के अनुसार पलकू और जिम्मे दोनों गुफा में साथ थे और जब दल्लो ने उन्हें वहां देखा तब वे संभोगरत थे। उसने अपने पति से पूछा कि वह वहाँ क्या कर रहा है। और जिम्मे को बाँस की एक पतली छड़ी से मारा। पलकू ने स्वाभाविक था कि वह इस अवरोध से क्रोधित होता, उसने उठकर अपनी पत्नी के वस्त्रों को खीचकर उसका अपमान करने के ख्याल से उसे नग्न कर दिया। उसने उसके सिर पर कुल्हाड़ी से पिछले हिस्से से दो वार किये। वह जब गिर पड़ी तब पलकू ने उसकी छाती पर बैठकर उसकी गर्दन को प्राणान्त होते तक मरोड़ा। वह उसे घसीटते हुए जंगल में ले गया और लाश को वहीं छोड़ आया। उसकी कंधियां, आभूषण एवं टोकरी आदि जिम्मे ने छिपा दी। पलकू कुछ बाँस लेने जंगल में गया और घर वापस लौट आया। जब लाश मिली तो उसने घोषित कर दिया कि उसकी पत्नी को एक शेर ने मार डाला।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परन्तु बाद में पलकू ने बताया कि उसने अपनी पत्नी को एक अन्य व्यक्ति के साथ संभोग करते हुए पाया जो मौके पर पहुँचने पर भाग गया, और उसने अपनी पत्नी के दुराचरण से क्रोधित होकर उसकी हत्या कर दी। उसने बाद में यह भी स्वीकार किया कि वह गुफा नें गया था परन्तु उसने इस बात से साफ इन्कार कर दिया कि उसने जिम्मे की ओर यौन चेष्टाएं की थीं। उसने बताया कि जब वह चट्टान पर बैठा हुआ था तो उसकी पत्नी ने उस पर एक पत्थर फेंका था। उसने उसे एक तमाचा लगाया और वह चट्टान पर से दुर्घटनावश गिर पड़ी, और उसकी मृत्यु हो गई।

इस बात का तनिक भी संदेह नहीं कि इस्तगासा में वर्णित कहानी सच थी जब पुलिस ने उस गुफा की तलाशी ली तो उसमें स्पष्ट रूप से भूमि की धूल पर किसी स्त्री के पीठ के बल लेटने के निशान बने हुए थे और कूल्हों के निशान के दोनों बाजू पैरों के पंजों के निशान बने हुए थे। इन पाये गये चिन्हों से स्पष्ट होता था कि संभोग आदिवासियों में प्रचलित सामान्य आसन में किया गया था, जिसकी पुष्टि जिम्मे ने भी कर दी।

पलकू से जब मैं जेल में मिला, वह तब स्वस्थ एवं आकर्षक था। जेल में उसका व्यवहार अच्छा था जिसके कारण उसे लम्बरदार बना दिया गया था और उसकी पीली ऊंची टोपी उसके ओहदे को दर्शा रही थी।

आत्मघात के नौ प्रकरण पति पत्नी में विवाद के परिणाम स्वरूप पैदा हुए थे। कोमे के बारे में कहा जाता था कि वह अति-शीघ्र भावावेष में आ जाती थी और जो सदैव बातों को अतिरंजित कर देती थी। वह बीस वर्षीय युवा पत्नी थी, और एक दिन जब उसका पति खेत से भीगा हुआ और थका हुआ घर आया और घर पर भोजन हेतु कोई भी वस्तु तैयार न पाकर उसने उसे डांटा फटकारा तब वह एक रस्सी लेकर घर से चुपचाप खिसक गई। उसके युवा पति ने भी बासा बचा हुआ खाना खाया और पुनः खेत पर चला गया। जब वह संध्या समय वापस घर लौटा तो उसकी पत्नी की मृत्यु हो चुकी थी।

माटे का उसके पति के साथ आग जलाने पर विवाद हो गया। वह नशे में था और उसे पीटने लगा, उसने भी उस पर आक्रमण कर दिया परन्तु उसके जेठ ने जिसके लिए वह पूर्ण रूप से वर्जित थी और जिसे उसको छूने को कोई कारण ही नहीं था, उसने भी विवाद में हस्तक्षेप क्रिया और उसे पीटा। रात्रि में वह घर से चली गई और अपनी माँ के घर पहुँचने के उद्देश्य से इन्द्रावती नदी पार करने लगी। चूंकि उस समय वहां कोई नाव मौजूद नहीं थी अतः उसने अपने वस्त्रों से फांसी लगा ली। यह बात यहां दृष्टव्य है कि समीप ही इतनी गहरी नदी होते हुए भी उसने आत्महत्या हेतु फांसी लगा-कर जीवनलीला समाप्त करने को महत्व दिया।

सन् 1937 के फरवरी माह में मेटापाल ग्राम में एक असाधारण दुःखद घटना घटित हुई। कुहरामी हुर्रा एक दिन जब बाजार से वापस आने पर पाया कि उसके एक बछड़े को तेंदुए ने मार डाला है। सही या गलत उसने यह विचार बना लिया कि यह बस उसकी पत्नी एवं बेटी की गलती से हुआ है। हुर्रा की पत्नी अपने उग्र स्वभाव के लिए विख्यात थी वह निरन्तर कलह करती, विशेष रूप से तब जब उसका पति घरेलू मामलों में दखलंदाजी करता, और कहते हैं कि उसकी बेटी ने अपनी माँ का पक्ष लेने का रवैया बना लिया था। बछड़े के कारण हुई कलह के कारण पहले तो माँ ने अपने घर में आग लगा दी और फिर खेत पर बने मकान में बेटी के साथ जाकर पहले अपनी बेटी को फांसी लगा दी फिर स्वयं को भी फांसी लगाकर समाप्त कर दिया।

एक अन्य मामले में उसी क्षेत्र की गल्ले नामक एक स्त्री अत्यंत ही खराब गृहणी थी। वह अपने पति से कहा करती थी कि यदि वह उससे कुछ भी काम करने हेतु कहेगा तो वह बच्चों को जमीन पर फेंक देगी। मृत्यु के दिन उसे कहा गया कि वह सम्पूर्ण परिवार हेतु जो निश्चित ही बड़ा था पत्ते के दोने बनाये और खाना पकाए। उसने इस तात्कालिक कारण से विचलित होकर, अपने आपको फांसी लगा ली। परन्तु इसके पीछे पारिवारिक कलह एवं विषाद की एक लम्बी दुःखद गाथा विद्यमान थी।

तीन उल्लेखनीय मामले ऐसे भी घटित हुए थे जिनमें पश्चाताप एवं दुःख के कारण आत्मघात पतियों ने किया था। बरसे चेवा ने अपनी रूग्ण एवं असहाय पत्नी को प्रातःकाल आग जलाने को कहा। उसे यह कार्य करने में देर हो गई और चेवा ने उसे पीटा और लात जमाई, जिसके कारण वह बेहोश हो गई। वह इस घटना से इतना शर्मिन्दा और भयभीत हो गया कि उसने आत्मघात कर लिया। ऐसा मरावी दोडसा ने भी किया, जिसने अपनी पत्नी को जिसकी आंखें आई हुई थीं इसलिए खूब पीटा क्योंकि वह बच्चे को शान्त नहीं रख पा रही थी। उस रात दोडसा अत्यधिक दुःखी हो गया था। उसे इस बात का अहसास हो रहा था कि उसकी बीमार पत्नी थी और इस स्थिति में उसे पीटने का कोई हक नहीं था और चूँकि बच्चे की आंखें भी आई हुई थीं अतः उसका रोना स्वाभाविक ही था। वह घर छोड़कर चला गया और अपने ही वस्त्र से महुए के एक वृक्ष पर फांसी लगा ली।

बहु विवाही परिवार

बहुविवाही वाले परिवारजनों की तनावग्रस्तता एवं मानसिक दबाव के कारण दुःखद घटनाएं उतनी नहीं घटित होती जितनी की हम अपेक्षा करते हैं। माड़ियाजनों में बहुपत्नी प्रथा इतनी अधिक प्रचलित नहीं है, जिसका सीधा-साधा कारण तो यह है कि उनमें इस हेतु पर्याप्त संख्या में स्त्रियों का न होना है। ऐसे व्यक्ति जो एक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से अधिक विवाह करते हैं वे सामान्य तथा ऐसे विलक्षण व्यक्ति होते हैं जो प्रत्येक स्थिति को कामयाब बनाने की क्षमता रखते हैं। यहां तक इस प्रकार के जटिल दाम्पत्य जीवन को भी उदाहरण स्वरूप उजड्ड एवं प्रभावशाली गोगे एक ऐसा ही व्यक्ति था जो तीन पत्नियाँ रखने में सक्षम था। ओयामी मासा जिसने अपनी छोटी पत्नी की हत्या खुटेपाल ग्राम में कर दी थी, वह भी ऐसा ही एक अनोखा बहुपत्नी रखने वाला अत्यंत शक्तिशाली प्रभावशाली एवं दिलचस्प व्यक्ति था और ऐसे व्यक्ति अपनी सभी पत्नियों के साथ लगभग एक समान स्तर का व्यवहार करते हैं, बशर्ते कि वह उन सबको संतुष्ट करने योग्य पुंसत्वधारी हो। ऐसे भी अवसर हो सकते हैं जिनमें ऐसी पारिवारिक व्यवस्था सफल हो सके।

असफल होने वाले मामले ऐसे कम ही प्रकाश में आते हैं, परन्तु जो होते हैं वे दिलचस्प कहे जा सकते हैं। कभी-कभी ईर्ष्या एवं कलह की परिणति हत्या में तो कभी आत्मघात में होती है। खुटेपाल ग्राम में मैंने ओयामी मासा के परिवार से भेंट की और उसकी आकर्षक बड़ी पत्नी से मुलाकात की। वह एक वर्ष के कारावास के बाद अभी-अभी छूटकर आया था। जिसने अपनी छोटी पत्नी टोक्के की हत्या की थी। टोक्की एक विधवा थी और किसी भी मानदण्ड से युवती नहीं कही जा सकती थी, जिसके पूर्व पति का बेटा असम चाय बगान में कमाने योग्य होकर गया हुआ था। सन् 1940 के आरम्भ में जब टोक्की मासा के साथ छः महीनों से साथ रह रही थी, तब उसका बेटा आसाम से अपनी माँ के लिए उपहार स्वरूप तीन वस्त्र लेकर वापस आया। मासा ने जैसे कि आशा की जा सकती है, वे उपहार स्वयं रख लिए जिससे स्वाभाविक रूप से टोक्की विचलित हो उठी। उसने कहा कि बड़ी पत्नी के दबाव में आकर उसने उसे चिढ़ाने के लिए ऐसा किया था। मासा ने उत्तर दिया कि वह उस परिवार का मुखिया है और वह उसे और उसके बेटे व सब लोगों को खिलाता है अतः इस बात का कोई अर्थ नहीं है कि वे वस्त्र उसने स्वयं रखे या टोक्की ने। यह झगड़ा निरन्तर चलता ही रहा जैसा कि ऐसे मामले में होता है और एक दिन अपनी पत्नी के व्यवहार से परेशान होकर वह इतना अधिक क्रोधित हुआ कि एक डंडा उठाकर उसे पीटने लगा। चूँकि उसने लाश का क्रिया कर्म तुरन्त कर दिया अतः यह ज्ञात नहीं हो सका कि उसने उसे कितनी सांघातिक चोट पहुँचाई या कि उसने उसकी हत्या करने के इरादे से उसे पीटा। परन्तु उस स्त्री की मृत्यु हो गई। तीन सप्ताह तक पुलिस में कोई रपट नहीं की गई और इस बीच सभी साक्ष्य नष्ट हो गए और अदालत के लिए यह असम्भव हो गया कि वह मासा को इण्डियन पेनल कोड की धारा ३२३ के अधीन एक वर्ष से अधिक सजा दे सके, जिसका कि उसने इकबाल किया था कि उसने अपनी पत्नी को आघात पहुँचाया था।

दुगेली ग्राम में मैं बुगोड़ी और उसकी बड़ी पत्नी जिम्मे से मिला। अत्यन्त आकर्षक बुगोड़ी दो युवतियों को अपनी ओर आकर्षित करने में सफल हुआ था जो दोनों ही उस पर प्रेम में निछावर थीं। दुर्भाग्यवश जिम्मे की ईर्ष्या अपरिमित थी, और एक दिन जब वे दोनों स्त्रियां जंगल में काम करने गई तब जिम्मे ने जो बहुत ताकतवर थी छोटी सौत की टंगिये (कुल्हाड़ी) से हत्या करने का प्रयत्न किया। किन्तु वह बच गई और जिम्मे को तीन वर्ष की सजा हो गई। उसकी अनुपस्थिति में छोटी पत्नी बुगोड़ी के पास रही। परन्तु जब जिम्मे के जेल से छूटने का समय समीप आया तब गांव वालों ने पंचायत की और पंचायत ने इस आशंका से कि जिम्मे जेल से छूटकर आने पर पुनः उसकी हत्या करने को उद्धत हो सकती है, अतः छोटी वहू अपनी मां के साथ जाकर रहे। जिम्मे के घर वापस आने पर बुगोड़ी ने नियमानुसार अपने ग्रामवासियों को भोज देकर जेल के दूषण से मुक्त किया जहां वह आनन्दपूर्वक रही और उसने बच्चों को भी जन्म दिया। बुगोड़ी बीच-बीच में अपनी छोटी पत्नी से मिलने उसके घर भी जाता था परन्तु इस आशंका के कारण कि दुबारा कोई हादसा न हो जाए, उसे वह अपने घर नहीं आने देता था।

मरकामी हाँदा की दो पत्नियाँ थी और उनमें चौबीस वर्षीय सुमुखी छोटी पत्नी को वह प्रसन्न रख पाने में असमर्थ था। उसका एक अन्य व्यक्ति से प्रेम हो गया जिसने उसके पति की इस कारण से हत्या कर दी कि वह उससे प्रतिशोध न ले सके। मरावी केसा की तीन पत्नियाँ थी और वह सबसे छोटी पत्नी से दुर्व्यवहार करता था। एक दिन जब उसने उसे पीटा तो वह भागकर अपने पिता के घर चली गई। इस बात पर विवाद हुआ और केशा ने अपने श्वसुर की हत्या कर दी। पोयामी मासा की दो पत्नियाँ थी और एक धोबी ने उसकी बड़ी पत्नी को अपनी ओर सम्मोहित करना चाहा। छोटी पत्नी को इस सम्बन्ध का पता चला तो उसने सोचा कि सौत से पिण्ड छुड़ाने का उचित अवसर उसके हाथ लग गया। उसने अपने पति को जब इस प्रसंग के बारे में बताया तो वह इतना अधिक क्रोधित हुआ कि उसने एक तीर घोंप कर उसकी हत्या कर दी और परिणाम स्वरूप स्वयं आजीवन कारावास भुगतने चला गया।

ताती हड़मा की तीन पत्नियाँ थी। जिस घटना का जिक्र यहाँ किया जा रहा है। उस समय उनमें से दो ही जीवित थीं। छोटी पत्नी से उसे चार संतानें थीं, परन्तु हड़मा सदैव उसे यह कहकर पीटा करता था वह कोई भी काम ठीक से नहीं करती और डटकर खाती है। उसके मतभेद इतने अधिक बढ़े कि गांव वालों ने पंचायत बैठाकर दोनों पर चार-चार आना जुर्माना इस कारण से किया कि वे दोनों आनन्दपूर्वक नहीं रह रहे हैं। एक दिन सुबह पत्नी हड़मा को खेत पर बुलाने गई तो उसने उसे मृत पाया, छोटी पत्नी जो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसकी प्रताड़ना को और अधिक बर्दाश्त नहीं करना चाहती थी, ने उसकी हत्या कर दी।

बहुपत्नी वाले परिवार की मामूली किस्म की तंगहाली का चित्रण सोरी डोमे के प्रकरण में मिलता है जिसमें उसने अपनी बड़ी सौत चुले की हत्या कर दी थी। जब उनका पति जीवित था तब भी वे दोनों झगड़तीं रहती थी। मृत्यु के तीन वर्ष पूर्व भी डोमे ने चुले के सिर पर टूटे हुए हलके टुकड़े से आक्रमण किया था, और चुले को स्वस्थ होने में पूरा एक माह लग गया था। डोमें हमेशा बड़ी सौत को जान से मारने की धमकियाँ देती रहती थी। पति की मृत्यु के उपरान्त स्थिति और भी बिगड़ गई। चुले वृद्ध और कमजोर थी और उसे याज नामक बीमारी हो गई थी जिसके कारण वह कठोर व चिड़चिड़ी हो गई थी। परन्तु उन दोनों स्त्रियों ने अपने जेठ के साथ अपने पति के घर में एक साथ रहना जारी रखा। इस हादसे के पूर्व चुले चिड़चिड़ाती हुई शिकायत करती कि डोमे चांवल के उपयोग के मामले में उड़ाऊ है जिसके बारे में बड़ी सौत का कहना था, चूँकि वह चांवल उसने खाया है अतः उसने उसे बर्बाद नही किया था। एक दिन जब वे दोनों खेत पर काम कर रही थी तो निरन्तर झगड़ती रही और अन्त में घर लौट आयीं। डोमे के हाथ टंकिया (कुल्हडा) था और उसके दो बच्चे उसके साथ थे। चुले बाँस की टोकरी लिए थी डोमे चिल्लाई कि उसके पैर में चोट लगी है अतः वह आराम से उसके पीछे-पीछे आयेगी। इस बात पर उत्तेजित होकर डोमे ने चुले की गर्दन पर पीछे से जोर का धक्का दिया और फिर टंगिये से एक वार किया। वृद्धा स्त्री गिर पड़ी तब डोमे ने उस पर वार किया ऐसा प्रतीत होता था कि वहाँ उसका प्राणांत हो गया। डाक्टरी रपट से विदित हुआ कि न तो सिर पर और न ही पसलियों में टंगिये के आघात के कारण कोई हड्डी टूटी थी और न ही हड्डियां अपने स्थान से उखड़ी थी। डोमे ने टंगिये के धारदार हिस्से से आघात नहीं किया था और संभव है कि वह उसे मारना नहीं चाहती हो, मात्र सबक सिखाने की नीयत से वार किया हो, इस हादसे का दूसरा पक्ष यह भी है कि चुले की समाप्ति उसके लिए स्पष्ट रूप से अत्यन्त लाभदायक थी।

यह बात आश्चर्यजनक है कि पत्नी वाले परिवार में आत्मघात की घटनाएं अधिक नहीं होती। परन्तु ऐसी घटनाएं होती अवश्य हैं। खुटेपाल गांव के वाड्डी की दो पत्नियां थी दोनों में झगड़ा हुआ और बड़ी सौत ने फांसी लगा ली। समगिरी के मासा के भी दो पत्नियां थीं और छोटी पत्नी हमेशा इससे इस बात को लेकर झगड़ा करती थी कि वह उसे अच्छे वस्त्र और आभूषण आदि नहीं देता और न ही उसके साथ पर्याप्त शयन ही करता है। इसलिए इर्ष्या एवं हताशा में उसने फांसी लगा ली। वस्तानार ग्राम की अठारह वर्षीय पोयामी गुपे जो सोलह वर्ष की आयु में ही विधवा हो गईथी का पेपुनर्विवाह गुड़ी से उसकी दूसरी पत्नी के रूप में करा दिया गया। दूसरे विवाह के लगभग सात माह बाद एक दिन गुपे जंगल से वास्ता (कच्चा बाँस) एकत्रित करने गई जो आदिवासियों में स्वादिष्ट व्यंजन माना जाता है। उसे घर वापस आने में देर हो गई। इस पर उसकी सौत ने उसे काफी भला-बुरा कहा और वे सब लांछन लगाए जो एक ईर्ष्यालु सौत लगा सकती है। वह घर छोड़कर अपने मामा के यहां चली गई। गुड़ी उसे लेने गया परन्तु उसने बजाए आने के फांसी लगा ली।

कावासी दुलगा की प्रतिक्रिया एकदम विलक्षण थी। वह उन लोगों में से था जिन्हें कभी भी दो विवाह नहीं करने चाहिये वह एक दब्बु चरित्र का व्यक्ति जो अपनी दोनों पत्नियों को कभी वश में नहीं रख पाता उसकी दोनों पत्नियाँ सदैव झगड़ा करती और इस कलह ने उसके घर एवं जीवन को नर्कमय बना दिया था। एक दिन वह छोटी पत्नी के साथ बाजार गया था और जब वे लौटकर आए तो उन दोनों में झगड़ा होने लगा और तब दुलगा ने उसे तमाचा लगा दिया। दुलगा ने उससे आगे-आगे चलने को कहा क्योंकि वह तनाव-मुक्त होना चाहता था। वह थोड़ी दूर आगे बढ़ी और जब उसने अपने पति को पीछे आते हुए नहीं देखा तो वह वापस उसका पता लगाने लौटी तो उसने उसे एक वृक्ष पर फांसी लगाये हुए पाया।

भाइयों की पत्नियों में आपसी सम्बन्धों को सावधानी पूर्वक नियमित किया जाता है : बड़े भाई और छोटे भाई की पत्नियों के बीच पूर्णरूप से निषेध होता है आदिम समुदायों में इससे मजबूत बचाव का नियम उपलब्ध नही। परन्तु बड़े भाई की पत्नी (भाभी) के साथ छोटे भाई (देवर) को विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं। वह उससे छेड़-छाड़ कर सकता है, वह उससे अश्लील मजाक कर सकते हैं, वह उसको प्रेमी बना सकता है, और बड़े भाई के मरणोपरान्त उसके साथ विवाह करने का उसे सर्वप्रथम अधिकार होता है, और अन्य किसी के साथ विवाह होने पर उसे हर्जाना पाने का भी हक होता है।

यह स्पष्ट है कि ऐसे लोगों में जहाँ भाई बहुधा साथ-साथ रहते हैं, घर एवं खेती में भागीदार होते हैं, जहाँ ईर्ष्या बहुत प्रबल होती है और यौन इच्छा तीव्र वासनामय होती है, इस प्रकार की परम्परा विपत्ति कारक भी हो सकती है। देवर के लिये भाभी आनन्दकर होती है क्योंकि वह उसकी पहुँच में होती है और उसके अन्तकरण पर इसका पाप बोध भी नहीं होता बड़े व्यक्ति को छोटी उम्र की स्त्री द्विगुणित आकर्षक होती है क्योंकि वह वर्जित होती है। भाई में वे सम्बन्धी भी होते हैं जो नाते रिश्ते में चचेरे, ममेरे, फुफेरे लड़के भी माने जाते हैं जिन्हें अंग्रेजी में कजिन की परिभाषा के अन्तर्गत माना जाता है। एक युवक हेमला धुरवा ने अपनी पत्नी जिम्मे की हत्या कर दी, जिसमें उसके बड़े चचेरे भाई से अनैतिक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संबंध स्थापित कर उसके साथ बेवफाई की थी। आम की ऋतु में जब आम पक गये थे जिम्मे धुरवे के साथ आम खाने व एकत्रित करने चली गई और पति को उन पर शक हो जाने के कारण उसने उनका पीछा किया और छिपकर उन पर निगरानी करने लगा। धुरवा ने वृक्ष पर चढ़कर उसे हिलाया और जिम्मे ने गिरे हुए आमों को एकत्रित किया और दोनों ने मिलकर उन्हें खाया। तत्पश्चात धुरवा उसे झाड़ियों के पीछे ले गया और जैसे ही वह उसके साथ संभोग करने को था कि बक्का प्रकट हो गया और उसने उन्हें पृथक कर दिया। कुछ समय पश्चात बक्का अचानक खेत से पानी पीने हेतु वापस लौट आया, और उसने धुरवा को अपने घर से निकलते हुए देखा। उसने कहा कि वह इस मामले की शिकायत ग्राम के वयोवृद्ध जनों से करेगा। जब उसने अपनी पत्नी को उसके आचरण के लिये डाँटा फटकारा तब उसने पलट कर उत्तर दिया कि वह अपने प्रेमी के साथ रहेगी और उसे कोई भी नहीं रोक सकता। इसके बाद उस परिवार में सदैव कलह रहने लगी, जिसमें बक्का के पिता की पिटाई भी हो गई, जिससे वह इतना उत्तेजित हो उठा कि उसने अपनी पत्नी की हत्या कर दी। इस मामले में बक्का की भावनाएं आपे से बाहर सिर्फ इसलिये नहीं हो गई थीं कि उसकी पत्नी विश्वासघाती थी वरन इसलिये भी कि उसने एक ऐसे व्यक्ति से संबंध बना लिये थे जो उनके समाज में वर्जित माने जाते थे। जिसके परिणाम स्वरूप संपूर्ण परशक्तियों का कोप उसे भुगतना पड़ता जिसमें मवेशी मर सकते थे और उसे मनोरोग, जलोदर आदि से ग्रस्त होना पड़ता।

ऐसा ही एक प्रकरण तेलम ग्राम के मरावी बोटी का है। बोटी और उसका छोटा भाई केसा दोनों विवाहित थे और वे अपने पिता के साथ रहते थे। बोटी की पत्नी का देहाँत हो गया और वह छोटे भाई की पत्नी से प्रेम करने लगा, यद्यपि ग्रामीणों के मतानुसार उस स्त्री ने बोटी को सम्मोहित किया और उससे विवाह न करने पर आत्महत्या कर देने की धमकियां दीं। कोसा को अपनी पत्नी के चरित्र पर आशंका हुई और उसने उसे पीटा और इस घटना के परिणाम स्वरूप बोटी एक सप्ताह उस स्त्री के साथ जैपुर जमींदारी में भाग गया लगभग तीन सप्ताह के उपरान्त बोटी ने अपने पिता के घर जाकर अपनी पत्नी से उत्पन्न हुए बच्चों को ले आने का निर्णय लिया। उस लड़की ने भी जिद की कि वह उसके साथ जायेंगी। जब वे तेलम के समीप पहुँच गए थे दुर्भाग्यवश उसी राह पर कोसा से उनकी भेंट हो गई। वास्तव में बाजार से लौटते हुए लोगों ने उसे बता दिया था कि बोटी वापस आ गया है और वह बदला लेने की नीयत से गागड़ा हाथ में लिये उधर निकल पड़ा था। जब उसने अपने बड़े भाई को देखा तो वह चिल्लाया कि उसका भाग्य अच्छा है क्योंकि तुम्हें मेरे पास भेज दिया। क्योंकि तुम मेरी पत्नी को भगाकर ले गये थे। और ऐसा कहकर उसने बोटी के चेहरे पर आघात किया, बोटी ने उसका हाथ पकड़ लिया और उस संघर्ष में कोसा मारा गया।

बोटी ने जेल से छूटने पर जेल यात्रा से शुद्धि पाने के अलावा कुछ अन्य आयोजन भी किये। चूंकि उसने छोटे भाई की पत्नी को रख लिया था इसके परिणामों के प्रतिकार हेतु उसने अपने पुरखों और कुलदेवता की तुष्टि हेतु भी आयोजन किये। यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसके शरीर पर सूजन आ जाती और वह मर जाता जेल से छूटने के उपरान्त वह एक वर्ष तक नपुंसक बना रहा।

यह शायद आश्चर्यजनक बात ही है कि देवर को भाभी के साथ प्राप्त उदारता के परिणामस्वरूप होने वाली हत्याओं की संख्या अधिक नहीं है। बोटी के मासे से इसी प्रकार के मधुर सम्बन्ध थे और परिणामस्वरूप उसने मासे को विष देकर उसकी हत्या कर दी ताकि वे सामान्य वैवाहिक जीवन में बंध सके टाटीहिड़मे की हत्या का कारण उसका अपने पति की मृत्यु के उपरान्त अपने देवर की पत्नी बनने हेतु अस्वीकार करना था जो अपना हक जता रहा था।

यह संभव हो सकता है कि उज्जी पोडा ने अपने चचेरे छोटे भाई कोपा के प्रति जो उसकी पत्नी से प्रेम करता था अतिशय उदारता इसलिए दर्शाई हो कि उसकी पत्नी राघो से प्रेम करके आदिवासी समाज के नियमों का उल्लघन नहीं कर रहा था वह मात्र उसकी निजी वैवाहिक भावनाओं को अपमानित कर रहा था। कोपा इन्द्रावती तट पर कौरगाँव में पोडा के खेत पर कबाड़ी मजदूर की भांति काम करता था। हत्या की घटना पांच वर्ष पूर्व पोडा को यह पता चला कि कोपा उसकी पत्नी से प्रेम करके देवर भाभी सम्बन्धों का अनुचित लाभ उठा रहा है। शुद्धिकरण एवं तुष्टि हेतु एक आयोजन किया गया और कोपा कुछ समय के लिए राघो को अकेली छोड़ गया परन्तु वे दोनों एक दूसरे से वास्तव में प्रेम करते थे अतः दोनों में पुनः घनिष्ठता स्थापित हो गई। जुलाई 1933 में पोडा को उनके सम्बन्धों के बारे में पता चला और उसने कोपा को नौकरी और घर से निकाल दिया। कोपा उसी गाँव में रिश्ते के एक अन्य भाई के यहां जाकर रहने लगा।

रविवार 30 जुलाई की रात्रि की घटना है, कोपा पोडा के घर में अर्धरात्रि के समय राघो के साथ शयन हेतु पोडा के घर में घुस आया। जब वे दोनों एक साथ थे राघो का हाथ धोखे से पोडा से टकरा गया जो उसकी बगल में ही सो रहा था और वह जाग उठा। कोपा जान बचा कर भागा परन्तु उसे पहचान लिया गया।

दूसरे दिन समाचार मिला कि उनके एक सम्बन्धी की छोटा कड़का ग्राम में मृत्यु हो गई है, राघो के साथ पोडा, कोपा तथा अन्य रिश्तेदार अन्तिम संस्कार में सम्मिलित होने हेतु वहां चले गए।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बुधवार के दिन पोडा और कोपा में खुलकर झगड़ा हुआ और पोडा ने गाँव के बुजुर्गों को कोपा के आचरण से अवगत कराया और उसे सार्वजनिक रूप से पीटा। कोपा वहां से भागकर जंगल में छुप गया। वृहस्पतिवार को सब लोग अपने घरों को लौट गए।

उसी दिन दोपहर के बाद पोडा के तीन नौकर कोसरा के खेत में निदाई कर रहे थे खेत पर चौकसी हेतु एक झोंपड़ी बनी हुई थी जैसी की आमतौर पर हुआ करती है जिसमें किसान चौकसी व विश्राम करते हैं। उस दिन वारिश हो रही थी और लगभग 4-30 बजे वहाँ कोपा अपनी छतोड़ी ओढ़े हुए आया और आग के समीप बैठकर अपने आपको सुखाने लगा। कुछ समय बाद जब पोडा वहाँ आया तो कोसा को वहाँ बैठा हुआ पाकर आग बबूला हो उठा। उसने कोपा की घूसों से काफी पिटाई की और उसको जमीन पर पटक कर उसकी छाती पर चढ़ बैठा और दोनों हाथों से उसका गला घोंट दिया। तीनों नौकरों में इतना साहस नहीं था कि वह बीच बचाव करते परन्तु वे मूकदर्शी बने रहे।

पोडा लाश को एक दूसरे किसान के खेत की झोपड़ी में ले गया और उसके गले में रस्सी का फंदा डालकर छप्पर से लटका दिया जिससे कि ऐसा प्रतीत हो कि उसने आत्मघात किया है उसने प्रत्यक्षदर्शियों को धौंस दी और सभी लोगों से कहा कि वे घटना की रपट आत्मघात के रूप में करें और चूंकि वह प्रभावशाली व्यक्ति था अतः सबने ऐसा ही किया।

इस मामले में हिंसा महत्वपूर्ण मुद्दा नहीं है जितना कि पोडा द्वारा अपनाई गई असहिष्णुता कोपा को प्रथम बार क्षमा प्रदान करने के बाद उसने अपने खर्चे से उसका विवाह एक युवती से शायद इस इरादे से करवाया कि उसक ध्यान परिवर्तित हो जायेगा दूसरी बार भी उसने अपने आप पर काबू रखते हुए उसे बिना किसी प्रकार की हिंसा के घर से निकाल दिया। कुछ माड़िया तो कोपा को रात्रि में अपने घर में पाकर तुरन्त ही मार डालते। कोपा ने पोडा के खेत की झोपड़ी में जाकर पिटाई ही की थी मानों कोई विशेष बात न हुई हो और जिसके परिणामस्वरूप पोडा अपना संतुलन खो बैठा। अदालत इस मामले के सभी पक्षों पर विचार करते हुए मात्र पाँच वर्ष के कारावास का ही दण्ड दिया।

मायका

गृह कलह का एक अन्य सामान्य कारण लड़कियों के मायके भेजने की प्रथा भी है मायके जाना आदिवासी लड़कियों के जीवन में काफी उत्तेजक एवं महत्वपूर्ण अवसर माना जाता है। विवाह के अवसर पर गाये जाने वाले गीतों में बचपन के घर के सुखों का वर्णन किया जाता है, और सास-ससुर के अधीन पति के घर को दुखदाई बताया जाता है। विवाहोपरान्त मायका घर मधुर एवं रूमानी स्मृतियों में बदल जाता है। वहां की कलह और कष्ट भुला दिए जाते हैं, और नये घर के मनमुटावों की अपेक्षा पिता का वात्सल्य कोमल एवं दयावान प्रतीत होता है। सामान्य रूप से कुछ महत्वपूर्ण तीज त्योहारों पर तथा खेती के अत्यावश्यक कार्यों में हाथ बंटाने हेतु लड़कियाँ मायके जाने के उत्साह में बहुधा व्यवहार कुशलता नहीं बरततीं और कुछ लड़कियाँ तो नियमित मायके जाने की आदत बना लेती हैं ताकि उन्हें उनके पति से दूर रहकर आराम मिले।

इन परिस्थितियों के कारण अनेक आत्महत्याएं हुई हैं, परन्तु हमारे इन सौ प्रकरणों की तालिका में हत्या का मात्र एक ही प्रकरण पाया गया है। वह मामला हुन्का मासा का है, जब मैं उससे जेल में मिला तो वह इस दुखद घटना के कारण दुखी रूग्ण, टूटा हुआ और मरियल हो चुका था। उसका विवाह पकली से तीन वर्ष पूर्व हुआ था और वह अपने माता पिता के साथ कुटरू जमींदारी के हल्लूर गाँव में रहता था। जून माह में उसकी पत्नी करसिता पेन के त्योहार पर अपने मायके गंगालूर चली गई। मासा ने जिद की कि वह भी उसके साथ जावेगा। पर्व के दो दिन उपरान्त मासा ने अपने श्वसुर से कहा कि वह घर जाना चाहता है क्योंकि यह वर्षा-ऋतु की शुरुआत है और उसे कार्य निपटाने हैं। वह बुजुर्ग इस बात पर सहमत हो गया और उसने विदाई स्वरूप परम्परानुसार उसे वस्त्र और एक टोकरी, भरकर टोरा (महुए का बीज) भेंट किया। परन्तु पकली ने जाने से इन्कार कर दिया। उसके माँ बाप कुली का काम करने हेतु जाने वाले थे और वह उनके साथ जाना चाहती थी। मासा ने इस आशंका से कि उसकी पत्नी सदा के लिये उसके हाथ से निकल जाएगी, उनके साथ जाने का निर्णय किया। वे सब रवाना होकर एक छोटे से विकासशील कस्बे गीदम में पहुँचे जहां पहुँच कर मासा ने पुनः अपनी पत्नी को ले जाने का प्रयत्न किया। गीदम से वे लोग तिरथुम पहुँचे जहां उन्होंने एक पुल के निर्माण कार्य में मजदूरी की। जब पुल का काम पूरा हो गया तो वे वहाँ से रवाना होकर सिलकझोड़ी पहुँचे जहाँ उन्हें खेतों पर मजदूरी करने हेतु काम मिल गया। उसके सास-श्वसुर ने अपने रहने के लिए एक झोपड़ी बनाली और मासा तथा पकली ने वहाँ आराकसियों द्वारा छोड़ी हुई झोपड़ी में अड्डा जमा लिया। उनमें वहाँ पहुँचने के पश्चात निरंतर झगड़ा चलता रहा क्योंकि मासा को अपनी खेती की चिन्ता सता रही थी। क्योंकि अपने परिवार में शारीरिक रूप से वह एक मात्र सुयोग्य सदस्य था। पकली उसके साथ न जाने हेतु कोई न कोई बहाना बनाने लगती। एक दिन तेज बारिश हो रही थी। दूसरे दिन नदी नालों में बाढ़ आई हुई थी। तीसरे दिन बाढ़ उतरने पर वह साथ जाने हेतु सहमत हो गई।

सन् १९३९ की दस जुलाई की रात्रि में आंधी तूफान के साथ जोर की बारिश हुई। रात्रि भोजन के बाद मासा और पलकी अत्यन्त कठिनाई से अपनी झोपड़ी में पहुँचे। उनमें वहाँ पहुँचकर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

काफी झगड़ा हुआ। मासा ने पकली से पुनः घर चलने को कहा और उसने इन्कार कर दिया। तब उसने उससे तम्बाकू मांगी जिसका सांकेतिक आशय संभोग से था, जिसके लिये भी उसने मना कर दिया। उसने मासा को अपमानित करते हुए कहा-पुकनाक, अर्थात् मेरे गुप्तांग को चाटो और अकेले घर लौट जाओ। उसने कहा कि यह असंभव है। इस पर उसने पुनः अपमानित किया इस पर वह इतना अधिक क्रोधित हुआ कि उसने एक भारी लकड़ी उठाकर उसके सिर पर आघात किया परिणामस्वरूप उसकी तत्काल मृत्यु हो गई।

बहुधा इस प्रकार के विवादों की परिणति आत्मघात होती है। मरकामी पिदे की पत्नी को प्रेम एक अन्य व्यक्ति से था और वह अक्सर अपने पति को छोड़कर मायके चली जाती थी जहां उसके लिए अपने प्रेमी से मिलना अधिक आसान होता था। पिदे बार-बार उसे लेकर आता और उसकी पिटाई करता। अन्त में उसने निराश होकर आत्मघात कर लिया। ककलूरा ग्राम के मुखिया की पत्नी मुन्द्री हमेशा अपने पति से मायके जाने हेतु झगड़ती रहती थी और एक दिन जब उसने मायके जाना चाहा और उसके पति ने मना कर दिया, तब उसने दुखी होकर आम के वृक्ष से लटक कर फांसी लगा ली।

दो मामले ऐसे भी हैं जिनमें आत्महत्या करने वाले पति थे। बाइस वर्षीय मरावी गुटामी का विवाह एक ऐसी लड़की से हुआ था जिसे वह बहुत चाहता था। ऐसा कहा जाता है कि प्रेम के कारण वह उस पर अंकुश रखने में इतना असमर्थ था कि, वह घर की बुजुर्ग स्त्रियों के लिए सरदर्द बन गई थी जो थोड़ा भी अवसर मिलने पर उसकी विद्वेषपूर्ण आलोचना करती थी। परिणामस्वरूप वह अपने मायके चली जाती और गुटामी को उसे वापस लाने हेतु वहाँ जाना पड़ता था। एक दिन ऐसी ही परिस्थिति में उसने पाया कि वह कहीं अन्यत्र छिप गई है। खुशियाँ लुटने के कारण उसने वापस आकर घर के पिछवाड़े में फांसी लगा ली। कवाशी हुर्रा की पत्नी लक्ष्मी उसकी तनिक भी परवाह नहीं करती थी और हमेशा मायके खिसक जाती थी। वह उसे पांच-छः बार वापस लेकर आया परन्तु वह कुछ दिन उसके साथ बिताकर पुनः मायके भाग जाती थी। हुर्रा उसे बहुत चाहता था और उसके निरन्तर वियोग से दुःखी होकर आत्मघात कर लिया।

ऐसे मामले में जहाँ बेटी के स्थान पर जिसमें माँ अपनी बेटी से मिलने हेतु इच्छुक रहती थी और भी करुणाजनक दुःखद घटना घटित हुई।

सन् 1939 के नवम्बर माह में किल्लेपाल की एक माँ को उसके बेटे और बहू ने कोसरा फसल की बुआई में सहयोग न करने पर फटकारा। वह दस वर्ष में विधवा हो गई थी और उसे दिलमिली में अपनी विवाहिता पुत्री के यहाँ मिलने जाने पर मानसिक शान्ति और आनन्द प्राप्त होता था। उसके इस व्यवहार का विरोध उसका भाई और पुत्र दोनों करते थे, जिनके साथ वह रहती थी। जब उसे लगा कि उसका यह सुख भी उससे छिन जाएगा तो उसने आत्मघात कर लिया।

सास-श्वसुर

किसी भी व्यक्ति के सम्बन्ध उसके सास-श्वसुर से बड़े दुर्बोध होते हैं। आम परम्परानुसार माड़ियों में भी हिन्दु समाज के मुताबिक ही बुजुर्गजनों को अपने दामाद को सम्मान प्रदान करना चाहिये। इस नियम के उल्लंघन से लोगों की भावनाओं को आघात पहुँचता है। मरावी कोसा की तीन पत्नियाँ थीं। जिनमें सबसे छोटी पिटने के कारण अपने मायके भाग गई थी। आदिवासियों में यह सामान्य बात है और इस पर भी यदि लड़की के माता पिता द्वारा अपनी बेटी का पक्ष लिया जाता है तब पति को अत्यधिक खीझ होती है। ऐसे मौके पर केसा अपनी पत्नी के पीछे-पीछे गया और वहां उसने उसे पड़ोसियों के साथ लांदा पीते हुए पाया। उसने अपने श्वसुर से जाकर कहा कि उसने उसकी पत्नी को वापस क्यों नहीं भेजा। उस बुजुर्ग ने लापरवाही से उत्तर दिया कि वह सुबह ही तो आई है। इस उत्तर से केसा क्रोधित हो उठा और उसने अपनी कुल्हाड़ी से उसके सिर पर आघात किया और मार डाला। एक अन्य मामले में सास को भाजन बनना पड़ा। मारवी हिंगे अपनी पत्नी हिड़में को जो अस्वस्थ थी लेकर पड़ोस के गाँव में सिरहा के पास उपचार हेतु गया। वहां उसकी सास ने उसे देख लिया। वह तुरन्त इस नतीजे पर पहुँच गई कि वह उसकी बेटी को उसी हालत में छोड़कर यहां मौज मस्ती करने चला आया और वह उसे कोसने लगी कि वह मल-मूत्र खाने वाला है, और यद्यपि उसने उसकी बेटी से विवाह किया है परन्तु वह उसकी तनिक भी परवाह नहीं करता। हिंगा जो कि एक बहुत अच्छा पति था, अपनी सास जिसे उसका सम्मान करना चाहिये था इस प्रकार अनर्गल लांछन वह भी पच्चीस कदम दूर से गाँव वालों को सुना-सुनाकर कहे अपशब्दों से इतना अधिक चिढ़ गया कि उसने दौड़कर उसपर टंगिये से आक्रमण कर हत्या कर दी।

सन् 1941 के अरणपुर हत्या वाले प्रकरण में दामाद और श्वसुर के सम्बन्ध बेहद बिगड़ चुके थे। सन् 1937 में बरसे चेवा ने टाटी पण्डू माड़िया लोहार की बेटी बांडी को अपना पत्नि बना लिया था। वधु मूल्य के रूप में उसने एक बछड़ा और एक टोकरी भरकर चावल दिया था। एक वर्ष बाद चेवा के घर में आग लग गई और उसके बड़े भाई ने जो उनके साथ ही रहता था रपट लिखवाई कि आग बांदी ने स्वयं ही लगाई थी। उस पर मुकदमा चला परन्तु वह बरी हो गई। मामला निपट जाने पर चेवा ने उसे उसके माता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पिता के पास भिजवा दिया जहाँ उसने कांडासोली के एक व्यक्ति से विवाह कर लिया तब चेवा ने अपने श्वसुर के पास जाकर उससे अपने विवाह पर हुए खर्च की मांग की। पाण्डू ने उसे कुछ भी देने से यह कहकर इंकार कर दिया कि चेवा ने स्वयं ही उसे घर से भगा दिया था और उसने दो वर्ष तक उसका खर्च भी वहन किया था, उसने इस बात के लिए भी आगाह किया कि जो भी राशि उसके नए पति से प्राप्त हो वह भी उसे ही मिलनी चाहिए न कि चेवा को। इस मामले में विवाद इतना अधिक बढ़ गया कि एक रात हताश चेवा ने जाकर पाण्डू के पेट में तीर घोंप दिया। चेवा ने अपने बचाव हेतु जो भी उपाय किए वे सब इसलिए निष्फल हो गए क्योंकि लोहार ने अपने पेट से वह तीर निकालकर उसे तुरन्त पहचान लिया था जो उसने स्वयं बनाकर चेवा को दिया था।

इस प्रकरण में विवाद के मुद्दे पर आदिवासियों में मतभेद था। सामान्य नियमानुसार तो एक पति को त्याग कर दूसरे से विवाह करने पर दूसरे पति को पहले व्यक्ति को हरजाने स्वरूप वधु मूल्य (कुछ कटौती के साथ) वापस करना चाहिए और लड़की के पिता को हर्जाने की राशि पाने का अधिकार प्रथम पति से ही है न कि उसके उत्तराधिकारी से। परन्तु इस प्रकरण में उलझन इस कारण से उत्पन्न हो गई थी कि चेवा ने स्वयं ही अपनी पत्नी को घर से निकाल दिया था और फिर वह दूसरे विवाह के होते तक दो वर्ष तक अपने पिता के घर में रही। मामला काफी उलझा हुआ था और फिर लोहार होने के कारण पाण्डू ने यह आशा भी नहीं की थी कि आदिवासियों की पंचायत से उसे निष्पक्ष न्याय मिल पायेगा।

एक विलक्षण एवं दुखदाई हत्या के मामले में सोलह वर्षीय मरावी हुँगा ने अपने से तीन वर्ष छोटे हिड़मा की हत्या कर दी थी। ये दोनों लड़के आपस में काका-भतीजे थे, हुँगा की मां का विवाह हिड़मा के पिता के काका से हुआ यह सम्बन्ध विशेषाधिकार पूर्ण माना जाता है। एक पौध जिस भाँति अपनी दादी से हंसी मजाक कर सकती है, ठीक उसी भाँति काका अपने भतीजे के साथ भी मजाक कर सकता है तथा यहाँ तक भी धौंसिया सकता हैं कि वह वह उसकी मां के साथ शयन करेगा, और इस बात को न तो काका और न ही भतीजे का गंभीरतापूर्वक लेना चाहिये।

किन्तु इस प्रकरण में जब हुँगा की अपने छोटे भतीजे हिड़मा से खेत में भेंट हुई और उसने पूछा कि वह कहाँ जा रहा है, छोटे लड़के ने गाली देते हुए कहा कि वह उसकी मां और पत्नी दोनों को अपनी पत्नी बनाकर रखेगा। इस पर क्रोधित होकर हुंगा ने अपने धनुष से एक वाण चलाकर हिड़मा की हत्या कर दी। इस प्रकरण के पीछे कोई विशेष कारण विद्यमान नहीं था। दोनों लड़के नशे में भी नहीं थे और उनमें मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे। हुँगा एकाएक व्यर्थ ही हिड़मा की बात पर क्रोधित हो गया था अपने भतीजे के अपशब्दों से कुपित होने के कारण दो जीवन इस प्रकार नष्ट हो गये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विविधा

दण्डकारण्य

सुन्दरलाल त्रिपाठी

प्रागैतिहासिक युग में भारतवर्ष में जिन अवधियों और जिन अंचलों में आर्यों का निवास आरम्भ हुआ था, उन्हीं में दण्डकारण्य के परिव्याप्त प्रसारित अंचलों में आदिवासियों का निवास था। आदिवासियों का सामाजिक-सांस्कृतिक विकास आर्यों के पहिले विद्यमान था। यह स्वाभाविक प्रख्यापन आर्यों ने अपना अभियान और आश्रम–निर्माण पूर्वक निवास आदिवासियों के पश्चात् दण्डक में आरम्भ किया। वहीं आर्यों से आदिवासियों का सामाजिक सामन्जस्य समन्वय और समीकरण हुआ। आदिवासी उक्त अवधि में जिन बोलियों अथवा भाषाओं का व्यवहार करते है उनकी बोलियों अथवा भाषाओं में प्राकृत तथा संस्कृत के विपुल पदों का समन्वय हुआ, जो आधावधि विद्यमान है उदाहरणार्थः—तिन्तिड़–तैंतर, अलाऊ–लऊ, पनश–फनस, बपु–वपु, चरू–चरु, शौडिक्य–सूंडि, हिंड–हिड, तिन्दूक–तेंदू, गम्भीर–गधीर, प्रभु–परभू, लम्फ–लाफी, द्रोगी-अवला इत्यादि इत्यादि। वर्ण जब जातियो में परिवर्तित हुए तब चार वर्णो के सहित पंचम निषाद को यज्ञ में आर्यों के सहित अपने भोग का समान अधिकार था। प्रतीत होता है कि निषाद पद उन दिनों सार्वजनीन संज्ञा के रूप में समस्त आदिवासियों के अर्थ में प्रयुक्त था। ऋग्वेद् – पन्जजनाः पन्चजनेभ्यो पन्चजनास्तेषा 'यज्ञे अधिकारः अस्ति। ऐसे और अनेक उदाहरण विद्यमान् है। वैदिक साहित्य के अनुसार ही शूद्र पाचन के अधिकारी थे। परवर्ती युगों में समाज पुनर्वार अविन्यस्त हुआ और अधिक क्या? दण्डक के उपरि परिधि में अत्रि अनसूया का आश्रम था उसके अभ्यन्तर में, शरभंग ऋषि संघ, सुतीक्ष्ण, मणडकीर्ण अगस्त्य और ऋषि-मुनियों के आश्रम थे। दण्डक में ही रामचन्द्र ने सीता और लक्ष्मण सह्रित प्रलम्बमान अवधि व्यतीत की थी। महाकाव्य बाल्मीकि रामायण का अरण्य–कारण्य इस चर्चा से परिपूरित है महाभारत में भी ये उल्लेख है। भास ने प्रतिमा नाटक, कालिदास ने 'मेघदूत' तथा रघुवंश में तथा भवभूति ने 'उत्तर रामचरित मानस में राम से सबद्ध दण्डक के अत्यंत महत्वपूर्ण उल्लेख किए हैं।

इन उल्लेखों में दण्डक के भौगोलिक-इंगित उपलब्ध है, तथापि यह दुर्योग है कि साहित्य की उक्त समस्त अवधारणाओं से निरपेक्ष इतिहासज्ञों में इस विषय में परिभ्रान्तिपूर्ण मतामत हैं। भूगोल इतिहास की दृष्टि का आलोक है, उससे विरत इतिहास अन्धत्व है, अतएव दण्डक परिधियों का परिमापन अपेक्षित है।

राम के राज्याभिषेक का अवसर आने पर मन्थरा ने कैकेयी को स्मरण दिलाया कि दक्षिण दिशा में दण्डक के निकट तिमिध्वज असुर नृपति का राजकेन्द्र वैजयन्तपुर था।

"दिशमास्थाय कैकेयि दक्षिणां दण्डकान प्रति
वैजयन्तमिति ख्यातं पुरं यत्र तिमि ध्वजः।

अर्थात् स्पष्टतः दण्डक अयोध्या से दक्षिण दिशा में है। यही मन्थरा की अभिसन्धि और कैकेयी के आग्रह पर दशरथ ने राम को चौदह वर्ष के वनवास का आदेश प्रदान किया था। तदनुसार राम ने श्रृंगवरपुर तथा भारद्वाज आश्रम के मार्ग से भारद्वाज के आदेश तथा भौगोलिक निर्देश के अनुसार गन्धमादन के समान मनोरम चित्रकूट पर्वत पर पर्णकुटी निर्माणपूर्वक निवास किया, जो रम्या मन्दाकिनी नदी के तट पर स्थित है चित्रकूट तक का यह भूगोल सर्ववादि सम्मत हैं। राम को ज्ञात हुआ कि जनस्थान अर्थात् दण्डक से संयुक्त जनस्थान में खर नामक राक्षस तापसों का उत्पाटनपूर्वक, उनके यज्ञ में बाधा उपस्थित करके उनका वध कर रहा है। अतएव राम, सीता तथा लक्ष्मण सहित अत्रि आश्रम में पहुँचे। उनके अभियान का वास्तविक उद्देश्य दण्डक के प्रति था। राम ने मार्ग में रेखा अतिक्रम नहीं किया: यात्रा किन्तु उन्होंने दक्षिण दिशा में की पूर्वान्चिल दक्षिण में। पुनरुल्लेख आवश्यक है कि उनका उद्दष्टि अंचल दण्डक था।

अत्रि आश्रम के तापसों ने राम को सूचित किया किः—

ताबूचुस्ते वनचरास्तापसा धर्मचारिणाः।
वनस्य तस्य सन्चारं राक्षसः समभिप्लुतम्॥
रक्षांसि पुरुषादानि-नानारूपाणि राघव।
वसन्त्यस्मिन् महारण्ये व्यालाश्च रुधिराशनाः॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस वन का मार्ग राक्षसों से आक्रान्त है, इस विशाल महारण्य में नाना रूपधारी नरभक्षी राक्षस तथा रक्तभोजी हिंसक जन्तु निवास करते हैं—

एष पन्था महर्षीणं फलान्याहरतां वने
उननेन तु वनं दुर्गं गन्तु राघव ते क्षमम ।

यही वह मार्ग है जिनमें महर्षि फल-मूल आहरण करने जाते है, आप भी इसी मार्ग से दुर्गम वन प्रवेश कीजिये ।

अर्थात् दण्डकारण्य महारण्य अत्रि आश्रम से हुआ । राम ने चित्रकूट भरत को समझ-बुझा कर अयोध्या का राज्यशासन करने के निमित्त लौटा दिया था । चित्रकूट के निवासी ऋषिमुनियों का भय दण्डक जनस्थान के राक्षसों के प्रति ही था । इसलिए कर्मनिष्ठ राम चित्रकूट निवास परित्याग-पूर्वक दण्डक अभियान के उद्देश्य से अत्रि-आश्रम में जा पहुँचे थे । भरत-मिलन का चित्रकूट दण्डक के अतर्गत नहीं था । दण्डक की परिधि अत्रि आश्रम के निकट आरम्भ हुई । कहाँ था अत्रि आश्रम और कहाँ आरम्भ हुई दण्डक की उपपरिधि ? यह स्मरण रखना होगा कि यह परिसीमा राम के वन गमन की अवधि की है ? पुनरुल्लेख अपेक्षित है कि मार्ग में राम ने रेवा अथवा नर्मदा अतिक्रम नहीं किया और उनकी यात्रा दक्षिण दिशा की थी । अतएव प्रकृत प्रतीति है कि दक्षिण कौशल की पूर्व दिशा में कहीं अत्रि आश्रम था । महाकाव्य कथा के अनुसार दण्डक-वासी श्रृष्यशृंग मुनि से दशरथ ने शान्ता का विवाह किया था । उन्होंने शृष्यशृंग के द्वारा अपने पुत्रेष्टि यज्ञ—अनुष्ठान में अपने प्रति प्रीति-परायण नृपतियों को निमन्त्रित किया । कौशलराज भानुमन्त को भी सादर निमन्त्रित किया । यह कौशल, दक्षिण कौशल है ! यह प्रतीति अप्रकृत नहीं है कि संयोगवश इस कौशल में ही अत्रि-अनसूया का आश्रम था । राम के अग्रगामी मार्ग की प्रकृति भी अत्यन्त प्राकृतिक है । कौशल के दक्षिणांचल में उत्कल का मण्डल है । काला हाँड़ि के थुआमल रामपुर पर्वत से एक नदी का उत्स आरम्भ होता है, जिसकी आधुनिक अभिधा इन्द्रवती तथा पुरायुगीन संज्ञा मन्दाकिनी है । हमारे देश में एक अभिधा की अनेक संज्ञाएं हैं । प्रत्यक्ष है कि एक मन्दाकिनी स्वर्गंगा है, द्वितीय चित्रकूट की मंदाकिनी है और तृतीय यह मन्दाकिनी जो इन्द्रावती के समान प्रख्यापित है । इन्द्रावती मात्र परिकल्पित नहीं, वरन् वास्तविक मन्दाकिनी है, यह पुरायुगीन साहित्य द्वारा प्रमाणित है । प्रागैतिहासिक एवं पुरा ऐतिहासिक युग में यायावर नदियों के मार्ग का आश्रय ग्रहण करते थे यह तथ्य राम के मार्ग—अवलम्ब के द्वारा सत्य के समान प्रख्यापित है । राम शरभंग आश्रम में पहुँचे, शरभंग ने राम को परामर्श दिया कि वे सुतीक्ष्ण-आश्रम में गमन करें, शरभंग ने उनसे कहा:—

इमां मन्दाकिनीं राम प्रतिश्रोतामनुव्रज
नदीं पुषणेडुववहां गतस्तत्र गमिष्यसि ॥

श्रीराम यह जो मन्दाकिनी नदी प्रवाहिता है उसके प्रवाह की दिशा में आप जाइये । यह नदी पुष्णेडुवता है जिसमें पुष्पगुच्छ के समान हल्की नौकाएं प्रवाहित हैं । इसके तट प्रदेश से यात्रा करने पर आप वहां पहुँच जाइयेगा ।

बड़ौदा ओरिएण्टल इन्स्टिट्यूट से प्रकाशित पाठ-भेद समालोचनापूर्ण महाकाव्य के सम्पादकों ने इस श्लोक को वास्तव पाठ से अतिरिक्त माना है । सम्भवतः वह महाकाव्य की पाण्डुलिपियों से वियुक्त हो गया अथवा श्लोक की प्रभाविकता के विषय में उन्हें परिभ्रान्ति हुयी । शरभंग के द्वारा प्रयुक्त इस द्वितीय मन्दाकिनी के कारण भी उन्हें यह परिभ्रान्ति हो सकती है : परन्तु दूसरे श्लोक में दी वाणप्रस्थ ऋषि-मुनियों ने राम से अपनी रक्षा का निवेदन किया है ।

पम्पानदी निवासानामनुमन्दाकिनीमपि ।
चित्र कूटालयानां च क्रियते महत् ॥

पम्पा से आरम्भ मन्दाकिनी तथा चित्रकूट के निवासी हम सब ऋषि-मुनियों का संहार राक्षस कर रहे हैं, दण्डक में मात्र मन्दाकिनी नहीं, चित्रकूट की अवस्थिति के पद प्रयोग भी महाकाव्य में विद्यमान हैं । राम जब सुतीक्ष्ण आश्रम में पहुँचे तब सुतीक्ष्ण ने उनसे कहा—

चित्रकूटमुपादाय राज्यभ्रष्टोसि में श्रुतः ।
इहोपयातः काकुल्स्थ देवराज शतक्रुतुः ॥

मैंने सुना था कि आप राज्यभ्रष्ट होकर चित्रकूट आ गये हैं हे काकुत्स्थ ! यहां देवराज शतक्रतु भी आये थे । दण्डक चित्रकूट प्रख्यापन के कारण यह सिद्ध है कि मन्दाकिनी और चित्रकूट दोनों अभिधाओं के अंचलों की अवस्थिति वहां भी विद्यमान है । राम दण्डक में मण्डकर्णि के पन्चाप्सर सरोवर आदि में विचरण करते हुए पुन: सुतीक्ष्ण के आश्रम में आये तथा उनके आदेश से अगस्त के भाई तथा अगस्त्य के आश्रमों में गये । अगस्त्य ने उन्हें सूचित किया —

इतो द्वियोजने तात वहुमूलफलोदक:
देशों वहुमृगः श्रीमान् पन्चवट्याभिविश्रुतः ॥

तात यहां से दो योजन दूर वहुमूल फलउदक से परिपूर्ण वहुभृगों से परितुप्त पंचवटी संज्ञा से विश्रुत स्थल है तुम अब लक्ष्मण तथा सीता सहित वहाँ निवास करो ।

इन समस्त भौगोलिकताओं के विश्लेषण के पहिले भास—कालीदास एवं भवभूति आदि की अवधारणाओं का निरीक्षण अपेक्षित है राम जब लंका विजय करके दण्डक लौटे, तब भास के अनुसार राम को सूचित किया गया कि वशिष्ठ—वामदेव आदि ने आदिवासियों के सहित उनके प्रथम अभिषेक का अनुष्ठान दण्डक में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किया । "वशिष्ठावामदेवोप्रकृतिर भांष्टं" इत्यादि । दण्डक का भौगोलिक इंगित इस कथा में प्रस्तुत है ।

कालिदास-प्रणीत, मेघदूत का प्रथम श्लोक

कश्चित्कान्ता विरहगुरुण स्वाधिकार प्रमत्तः ।
शापेनास्पंगनित महिमा वर्ष भोग्येठा यर्तुः ॥
यसश्चक्रे जनक तनया स्नान पुण्योदकेषु ।
सिनग्धच्छाया तरुषु वसति रामगिर्याश्रमेषु ॥

इस श्लोक से स्पष्ट इंगित है कि कालिदास के द्वारा प्रतिष्ठित रामगिरि पर्वत दण्डक के अंतर्गत है।

कालिदास ने रघुवंश में अपने द्वारा अवधारित दण्डक के चित्रकूट अंचल में मंदाकिनी नदी के जल प्रपात से सम्बद्ध दो श्लोक तेरवें सर्ग में लिखे हैं—

धारा स्नोद्गारि दरी मुखोंसोंश्रृंगाग्र लग्नाम्बुद वपृपकः
वन्धाति में वन्धुरगात्रि चक्षर्द्धप्तः ककुद्‌भानिव चित्रकूट
एषा प्रसन्नस्मित प्रवाहा सरित् विदूरान्तर भाव तन्वी
मन्दाकिनी भाति नगोप्रकण्ठे मुक्तमाला कण्ठगतैव भूमेः ।

हे वन्धुरगात्रि सुन्दरी सीता चित्रकूट की यह धारा उदगीर्ण भाव से पर्वत राशि के श्रृंग भाग में जलबिन्दुओं का विच्छुरण कर रही है । कुमुद के समान इस चित्रकूट के सौन्दर्य निरीक्षण में मेरी दृष्टि अपलक है । स्वच्छ धीरगति प्रवाहिनी यह प्रसन्न सरिता दूर से चली आ रही है अतएव तन्वंगी प्रतीत होती है । नग, पर्वत के उपकंठ में यह मन्दाकिनी मुक्त माला के सामान संलग्न भूमि तक प्रसारित हो गयी है । यही तो है, दण्डक की सौंदर्यमयी मन्दाकिनी जिसका उल्लेख महाकाव्य में विद्यमान है ।

उत्तर राम चरितम् के अनुसार दण्डक के इस अंचल में मंदाकिनी एवं गोदावरी नदी-संगम से निकट पंचवटी की अवस्थिति है । भवभूति ने नदी संगम का यथावत् चित्रांकन किया है—

एते ते कुहरेषु गद्गद् नदद्गोदावरी ।
मेघालम्बिमौलिनील शिखराःक्षोणभृतो दक्षिणाः ॥
अन्योन्य प्रतिघात संकुल चलत्कल्लोलकोलाहलै ।
रूत्तलिस्ति इमें गम्भीरपयसः पुण्या. सरित्संगमः ।

दक्षिण दिशा के वे सब पर्वत दिखाई पड़ रहे हैं । उनकी गुफाओं में गोदावरी नदी की जलराशि गद्गद् रूप से ध्वनित प्रवाहित हो रही है और उन पर्वतों के उपरि भाग में मेघ के अखुत हो जाने के कारण पर्वतों के श्रृंग नीलरंग के परिलक्षित हो रहे हैं । यह सब अगाध जल तथा पवित्र नदी-संगम दृष्टिगोचर हो रहा है, इसके विशाल तरंग समूह परस्पर प्रतिघात के कारण उनके कोला- से यह संगम भयंकर प्रतीत हो रहा है ।

ः: भवभूति का उत्तर रामचरितम नाट्य ग्रंथ दण्डकारण्य तथा पंचवटी की भौगोलिक स्थिति के उदाहरण के पक्ष में अत्यंत उपादेय है । प्रातः समस्त ग्रंथ में दण्डक जनस्थान एवं पंचवटी के प्रतिपादन से वह ओतप्रोत है । उसमें दण्डक से सम्बद्ध तमसा-मुरला आदि नदियों के भी उल्लेख हैं । उक्त ग्रंथ में ब्रह्मचारिणी-आत्रेयी तथा वनदेवता बासन्ती के पारस्परिक कथोपकथन सूत्र से दण्डक पंचवटी-जनस्थान गोदावरी आदि के सुस्पष्ट निर्देश है जो उद्धहरण के योग्य हैं– आत्रेयी–अप्येतत्तपोवनम् ? अप्येषा पंचवटी ?

अपि सिरिदियं गोदावरी ? अप्ययं गिरि प्रसवण ? अपि वन देवता जनस्थानवासिना वासन्ती त्वम् ? अर्थात् यही वह तपोवन है ? यही क्या गोदावरी नदी है ? क्या यही गिरि प्रसवण है ? एवं आप ही क्या जनस्थानवासिनी वनदेवता है ? वासन्ती-अस्त्येतत् सर्वम् । अर्थात् यह समस्त सत्य है ? "उत्तर रामचरित" में ही राम शम्बूक के कथोपकथन में शम्बूक ने राम से कहा—

शम्बूक --आप प्राणिमात्र के अधिपति रक्षक-श्रेष्ठ हैं, अतएव सब के अन्वेग के योग्य होने पर भी, तुच्छ मुझे अन्वेषण करते हुए एक सौ योजन यात्रा पूर्वक, इस स्थान में उपस्थित हुए हैं—

राम ने जिज्ञासा की—यह क्या दण्डक है ?

शम्बूक--यह दण्डकारण्य ही है ।

राम—न केवलम् दण्डकेयम् । जनस्थानमपि । यह केवल दण्डक ही नहीं, जनस्थान भी है और यह पंचवटी है --इत्यादि...

फ्रेडरिक एड्विन पार्जिटर ने सन् 1894 के रायल एशियाटिक जर्नल आफ ग्रेडब्रिटेन और आयलैण्ड में एक प्रबन्ध लिखा था—'दि जागरफी आफ दि रामाज् एक्साइल' उसमें उन्होंने अवधारित किया है कि पंचवटी की यह प्रख्यापना अशुद्ध है कि वह नासिक में है । वाल्मीकि का मन्तव्य इतनी दूर पश्चिमांन्त में पंचवटी की स्थिति से सम्भव नहीं है । उन्होंने निर्द्धारित किया कि आधुनिक महाराष्ट्र के अन्तर्गत चन्द्रपुर अथवा चांदा मण्डल में प्रवाहिता प्राणहिता तथा गोदावरी संगम तट पर पंचवटी है ।

आलोचना-विवेचना से जटिल हो जाने के कारण विश्लेषण-मूलक अनेक कुछ अभी शेष है । दण्डक की उपरि परिधि से सम्बद्ध अत्रि आश्रम था । प्रमाणित उल्लेखों के द्वारा यह साधित है । ओड़िशा प्रदेश के कालहाड़ी अथवा खरोंद अन्चल में, धुआमल-रामपुर परिसर में महेन्द्र पर्वत की शाखा–प्रशाखाएं सानुमान हैं । इन शाखा-पर्वतों के श्रृंग तीन तीन सहस्र से चार सहस्र फुट तक ऊंचे हैं । इन्द्रावती का उद्भव वहीं से हुआ । आरम्भ में वह दक्षिण दिशा में पार्वत्य स्थायी स्रोतों से संयुक्त शाल-सागौन तिन्दूम आदि नाना जाति के वृक्षपादपों से समन्वित मनोमद हरीतिमामय वन में तीस मील तक विचरण करती हुई आठ-नव मील तक प्रदेश के मण्डलों की सीमा रेखाओं का निर्माण करती है । इसके पश्चात् वह ओड़िशा के ही कोरापुट मण्डल से नवरंगपुर तालुक का दक्षिण पूर्वान्चल अतिक्रम करती है । कोरापुट जयपुर की तरह आधुनिक अभिधा है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और वह मुग्धा तरुणी की तरह प्रायः आठ-नव मील तक स्थान स्थान पर वंकिमाकृति प्रवाहिता अपने प्राण-तत्व से उत्पादित कृषि-मय भूमि एवं वनान्तराल का परिदर्शन करती हुयी नवरंगपुर ताल्लुक्य से झाड़ी जयपुर की सीमा निर्मित करती है। अन्त में वह मास्केल नदी से अविच्छिन्न रूप से आलिंगित ओड़िशा-प्रदेश से बिदा होकर बस्तर मण्डल के जगदलपुर नगर से प्रायः तेरह मील पूर्व मण्डल की सीमा से जगदलपुर मुक्ति में प्रविष्ट होती है। ओड़िशा के कन्ध-मोया गदवा-परजा गोडिया दोरला भतरा आदि आदिम प्रजातियों को इन्द्रावती परिपोषित करती है।

महती इन्द्रावती वस्तर मण्डल में पूर्व दिशा से आरम्भ पश्चिम सीमान्त तक, उत्तर एवं दक्षिण दिशान्तर्गत अंचलों को प्रायः अढ़ाई सौ मील प्रवाहिता दो भागों में विभक्त करती है। यह उसका मनोयोग मय मुग्ध विस्मत आकर्षण स्वरूप है। जगदलपुर से यातायात के मार्ग से चौबीस तथा प्रवाह मार्ग से पैंतीस मील दूर चित्रकूट ग्राम में वह दो सहस्र फुट ऊंची तीक्ष्ण प्रस्तर प्रान्त से अपनी कतिपय धाराओं के सहित समस्त संचित वेग से विद्युतलहरी निम्न उपत्यका में अवतारित अजस-अनुपम प्रपात निर्मित करती है। इन्द्रावती बस्तर मण्डल की भोपालपट्नम, मुक्ति में भद्रकाली ग्राम के तटप्रदेश तथा चन्द्रपुर मण्डल की सीमा रेखा में गोदावरी से संगमित होती है। यदि उत्स से संगम तक के नदी प्रवाह की दूरी परिमापन किया जाये तो वह अनुमानतः पांच सौ मील अथवा आठ सौ किलोमीटर होगा। अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं के सहित समस्त अंचल में मात्र इन्द्रावती सर्वोपरि महीयसी नदी है। मातृमयी, अवदात अपराजिता, चिर-यौवना इन्द्रावती की दृष्टि-भंगिमा अपूर्व है। अपने प्रलम्बमान परिसर और वक्ष में प्रसारित समस्त सरीसृप, पादप, शाकाहारी एवं हिंस्र जीव-जन्तु मानव समुदाय आदि के रक्षण-वेक्षण से वह भली-भांति अवगत है। आनन्दमयी है वह। उसके गहरों की जलराशियों चक्राकृति आमोदरत है, अपने प्रवाह के पत्थरों का अपसारण उसके द्वारा सहज सम्भव है। मात्र प्रस्तर-खण्ड नहीं, अपने मार्ग के सानुमान पर्वतों का अच्छेद करती हुयी वह लुका-छिपी का खेल करती हुयी वह विलुप्त हो जाती है और शैल कान्तारों से वृहद्रोणी के समान अतिक्रान्त अग्रसर दिखाई पड़ती है। नाना-शाखा-प्रशाखाएं हैं उसकी जो उसके समान ही अवदात उदार है इसलिए अपने कक्ष में उन्हें वह संविलीन कर लेती है। इन परिसरों में आज तक कोई क्षुधा बुभुक्षा से निपीड़ित नहीं हुआ। अपने सख्यामय प्रपातों की तुमुल ध्वनियों के द्वारा सर्वत्र वह पृथिवी का जयगान हुई परिलक्षित है उसकी ही महाकाव्य एवं परिनिष्ठित संस्कृत साहित्य की संज्ञा मन्दाकिनी है।

ऋषि-मुनियों का जीवन अधिकांश यायावरीय या पदादिक यात्रा ही उनके पक्षों में सम्भव थी-परिनिष्ठित संस्कृत काव्य साहित्य के लेखकों की भी। कल्पना-प्रसूत अतिरंजन भले ही उनके लेखों में हो। अपेक्षित ऐतिहासिक और भौगोलिक चर्चाएं भी उन्होंने की है, जो वास्तव से अधिकांश विदूरित नहीं हैं। शुद्ध भौगोलिक उन्होंने नहीं लिखा, साहित्य लिखा है, जिसमें भौगोलिक इंगित अथवा निर्देश उपलब्ध है। कुतुहल, जिज्ञासा एवं यायावरीय साधना आंचलिक चर्चाओं के विषय अनिवार्य है चाक्षुष-प्रत्यक्ष स्थानिक अनुसंधान आपरीक्षण भी यह सब मोटर कार वायुयान आदि के युग में सहज नहीं रह गया है। इसलिए विबुध इतिहासज्ञों के लेखन में अर्थ की परिभ्रान्तियाँ भी है।

पुनरुल्लेख अपेक्षित है कि कवि कालिदास ने यक्षश्चक्र जनक तनया, स्नानपुण्योदकेषु; स्निग्धच्छाया तरुष वसति रामगिर्याश्रमेषु प्रयोग के द्वारा स्पष्ट रूप से रामगिरि की स्थिति का इंगित दण्डक के प्रति किया है। भुवन कोष के भूगोल में दक्षिणापथ की अवस्थिति का स्पष्टतम निर्देश है; उसके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न जनपद हैं परन्तु भण्डारकर ओरिएन्टल इन्स्टिट्यूट के संस्थापक भण्डारकर ने इस विषय में विरति के सहित नासिक से भिन्न तथापि उसके निकट ही अन्य स्थल दण्डक से सयुक्त पन्चवटी की प्रख्यापना कर दी है।

कालिदास लिखित 'मेघदूत' के टीकाकारों ने, महाकाव्य की अनुगति में प्रमाणित किया है कि चित्रकूट दण्डक के अंतर्गत है और चित्रकूट के अंतर्गत ही रामगिरि है। नन्दर्गिकर ने अपने द्वारा लिखित मेघदूत के समालोचना-ग्रंथ में उसके एक श्लोक की समीक्षा की है, जो ग्रंथ के अनेक संस्करणों में उपलब्ध है, अनेक में उससे विच्युत। श्लोक निम्न है-

"अध्वक्लान्तं प्रतिमुख गतं सानुमानाश्चित्रकूट
स्तुगेनत्वा जलद शिरसा श्लाधमानः॥

नन्दर्गिकर तथा अन्यान्य कतिपय मनीषियों ने श्लोक को प्रमाणिक रूप से ग्रहण किया है परवर्ती श्लोक में आम्रकूट की चर्चा है। परन्तु नन्दर्गिरकर ने श्लोक से सम्बद्ध चित्रकूट के अंतर्गत रामगिरि को ग्रहण नहीं किया, उसे नागपुर के निकट रामटेक के रूप में ग्रहण किया है।

पुनः-पुनः उल्लिखित है कि महाकाव्य एवं परिनिष्ठित काव्य-साहित्य के अनुसार दण्डक में भी एक चित्रकूट अंचल की। अवस्थिति है। पुरातात्विक, साधनों शिलालेखों-ताम्रपट्टों की साक्षी के अनुसार साक्षात् पुरायुगीन नृपतियों ने एक सहस्र से अधिक वर्षो तक सामान्य रूप से परिवर्तित चक्रकूट संज्ञा-प्रयोग के सहित उसमें राज्य शासन किया नल राज्यवंश ने, छिन्दक नागवंश इत्यादि ने। ये नल पौराणिक नहीं पुरायुगीन है। तीसरी शताब्दी इसवीं से आरम्भ, पन्द्रहवीं शताब्दी तक बस्तर-कोरापुटसकालाहाँड़ि अथवा खरौंद आदि की एकान्त एक संज्ञा चक्रकूट प्रख्यापित रही है, परन्तु इतिहासज्ञों पुरातत्वज्ञों का ध्यान दण्डक की प्रसारित सुजला-सुफला पृथ्वी में स्थित चित्रकूट चक्रकूट के प्रति आकर्षित नहीं हुआ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अल्तेकर तथा मिराशी के समान पुरा-इतिहासज्ञ, प्रलतत्वज्ञ, संस्कृतज्ञों से भी दण्डक पंचवटी आदि की भौगोलिकता के विषय में परिभ्रान्त प्रख्यापन हुआ है, अन्ये परे का कथा !

गुलामी यात्रदानी के द्वारा सम्पादित तथा हैदराबाद के पुरातत्व विभाग से प्रकाशित ग्रंथ में हेमचन्द्र राय चौधरी ने दक्षिण के अपने प्रलम्बभान परिच्छेद में दण्डक का मौलिक प्रतिपादन किया है। उन्होंने भी दण्डक की भूगोल विषयक गतानुगतिक प्रख्यापन की है । उन्होंने तथा अधुना समस्त विचारकों ने दण्डक ने वर्णित मंदाकिनी, चित्रकूट आदि के प्रति अपना आकर्षण व्यक्त नहीं किया, राय चौधरी तथा समस्त इतिहास एवं साहित्यविदों ने पंचवटी की अवस्थिति नासिक में ग्रहण की है।

रामटेक के रूप में रामगिरी की प्रख्यापना सबसे पहले अर्ली यूरोपियन ट्रेवेलर कैप्टेन टी ब्लराट ने की थी। होरेस हेमैन विल्सन ने उसकी सत्यापन हस्ताक्षरित किया और वही गतानुगतिक हो गया। इतना ही नहीं वरन् कवि कालिदास के सहित पाटलिपुत्र के नृपति चंद्रगुप्त, द्वितीय विक्रमादित्य तथा वाकाटक राज्ञी प्रभावती गुप्त से संयुक्त कर दिया तथापि यह सर्ववादि सम्मत है कि कालिदास राजाश्रयी कवि नहीं थे उन्होंने किन्हीं नृपतियों का आश्रय अपने जीवन में ग्रहण नहीं किया । किन्ही समीक्षाकारों ने 'मेघदूत-उल्लिखित रामगिरि की प्रख्यापना सरगुजा मण्डल के अंतर्गत रामगढ़ से की है। विन्ध्यपाद से आरम्भ दक्षिण में गोदावरी तक दण्डक की परिधि अवधारित है, अतएव यह मत अवश्य विचारणीय हो सकता है, यदि मेघदूत में प्रतिष्ठित प्रकृति उसके अनुरूप होती, भूगोल उसके अनुरूप होता। कवि के अनुसार रामगिरि दण्डक के अंतर्गत है अतएव यह आलोचना-विवेचना अनिवार्य है।

दण्डकारण्य की भौगोलिक गवेषणा का एकमात्र अवलम्ब है— महाकाव्य । राम वनवास से सम्बद्ध है दण्डक यद्यपि महाकाव्य में भी काव्य अतिरंजन एवं शिथ्यांश की चर्चा है तथापि प्रस्तुत प्रवन्ध भण्डारकर-ओरिएन्टल इंस्टिट्यूट से सम्पादित-प्रकाशित पाठ-भेद समालोचन पूर्ण संस्करण पर आधारित हैं । महाकाव्य के अनुसार राम के दण्डक-प्रवेश की परिधि अत्रि आश्रम से होती है। महाकाव्य के अनुसार ही अत्रि आश्रम दक्षिण-पूर्व कोशल तथा उत्कल के पूर्वान्चल से सम्बद्ध है। उत्कल का कालाहहौड तथा खरौद मण्डल है। जहां इन्द्रावती का उत्स आरम्भ हुआ है। नदी का यही रामचन्द्र का गंतव्य मार्ग है। यह नदी कालाहांडि से कोरापुट अंचल में प्रवाहित बस्तर मण्डल में प्रविष्ट हुई है । एक ही नदी है, जो पूर्व में थुआमल-रामपुर पर्वत से आरम्भ हुई है और बस्तर के पश्चिमान्चल भोपालपट्नम मुक्ति के भद्रकालि ग्राम तट पर भगवती गोदावरी से संयुक्त हुई है। शरभंग आश्रम में यही नदी ऋषि के द्वारा मन्दाकिनी के रूप में ख्यापित है -- संज्ञा है यह विशेषण नहीं।

यही परिसर है जो ऋषि-संघ के निवास पम्पा-मन्दाकिनी तथा चित्रकूट से अन्योन्याश्रम रूप से सम्बद्ध है। यही दण्डक की चित्रकूट अभिधा का परिव्याप्त अंचल चित्रकूट है जो कालिदास द्वारा श्लोक के प्रथमपद के समान समाहृत है। रामगिरि भी दण्डक के अन्तर्गत स्वनामधन्य रामगिरि के रूप में त्तुंग है। यह अवधारित है कि दण्डक का परिव्याप्त चित्रकूट अन्चल पुरा राजकीय युग से आरम्भ पन्द्रहवीं शताब्दी के चक्रकूट संज्ञा से अभिहित रहा, अतएव तन्तु तन्तु ऐतिहासिक-भौगोलिक परिमान के अनुसार चित्रकूट अथवा चक्रकूट में बस्तर कोरापुट-पूर्व-गोदावरी अथा खम्माम तथा काला-हांडि के अंचल हैं । कालाहांडि के उपरि प्रदेश की सीमा में अत्रि-आश्रम था।

यदि बस्तर के अंतर्गत स्थित गोदावरी एवं इन्द्रावती अर्थात् मन्दाकिनी के संगम-तट पर भद्रकाली से यात्रापूर्वक महाकाव्य में अंकित दूरी के क्रम से गवेषणा आरम्भ की जाये तो अगस्त्य आश्रम स्थिति तथा चित्रकूट अवस्थिति-प्रतीति स्पष्ट की जा सकती है और इन्द्रावती के उत्स की दिशा में अग्रगति मूलक परिक्षण से अत्रि-आश्रम तक का लेखा-जोखा प्राप्त किया जा सकता है।

चित्रकूट पर्वत उसकी उत्तर-सीमा में सानुमान है जिसका उल्लेख 'अब्वकलान्त' श्लोक के द्वारा 'मेघदूत' में विद्यमान है । यह पर्वत अब परिपाटी लोक-संज्ञा के अनुसार तैलिन घाटी संज्ञा से परिचित है।

दण्डकारण्य के परिव्याप्त प्रसारण में ही चक्रकूट के समस्त अंचल हैं जिसकी संज्ञा वाल्मीकि-कालिदास आदि के द्वारा चित्रकूट व्यवहृत है।

परिकल्पा से निरपेक्ष-विरत कठिन चाक्षुप आपरीक्षण तथा साहित्य-साधना की परिणति से संयुक्त प्रस्तुत निबंध है।

समस्त दण्डकारण्य गिरि-गुहा शैल-नदी प्रपात सरीसृप-पक्षिगण शाकाहारी-हिंस्त्र जन्तु आदि से परिलुप्त रहा है। सूर्य का समस्त आलोक आहरण करने के निमित्त लालायित उत्तुंग सघन वनराजि-लता-वल्लरी कन्द-मूल-पुष्प-फल से आवृत्त था यह, अब वह वन नहीं है। दण्डक के जलस्त्रोत अब सूख गये हैं पक्षियों की असंख्य जातियां विलुप्त हैं, उनका कलरव स्वल्प है, मृगयूथ, मृग-शावक की संख्या विरल हो गयी है, हिंस्त्र जन्तु नामोल्लेख मात्र है। हाथियों के दल विलुप्त हैं । जनक तनया ने दण्डक से सम्बद्ध गोदावरी के तट पर एक हस्ति शावक से अपना मनोविनोद किया था। भवभूति ने यह साक्षी प्रदान की है। अब वह जाति निशेस है। दण्डक में आदि-वासियों ने अमृतोनय फल-मूल तथा मांसाहार आदि के द्वारा अपनी परम्परा को शाश्वत जीवन प्रदान किया है। ग्राम-गठन ग्राम-सौंदर्य-रक्षण, समाज-गठन, धर्मपालन और सत्यवादिता में उनके जीवन व्यतीत हुए हैं परन्तु वह परम्परा अब व्यतिव्यस्त है, यह विकार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परन्तु आधुनिक वातावरण है। आदिवासियों की वृत्ति नगर-निवास की है, यही है वे कभी भूखे नहीं सोये---वह पुण्य दण्डक का ही तो है--बस्तर कोरापुट कालाहांडि-खम्माम आदि दण्डक के आदिवासियों की चर्चा अप्रगति लेखन में है।

यदि बाल्मीकि ने राम की वनवास यात्रा का सम्मुख परिवर्तन न किया होता अथवा उनकी दिव्यदृष्टि न होती तो उन्होंने मन्थरा के मुख से दण्डक तथा वैजन्तपुर से संयुक्त दण्डक का उच्चारण कैसे करवाया होता। अथवा भरत-मिलाप के चित्रकूट और उक्त परिसर में प्रवाहिता मन्दाकिनी नदी का उल्लेख कैसे किया होता अथवा त्रे अत्रि-आश्रम के पश्चात् ही दण्डक की उत्तर परिधि का निर्देश कैसे करते; अथवा आरण्यकाण्ड में दण्डक के अंतर्गत मन्दाकिनी द्वितीय चित्रकूट और पुनः द्वितीय चित्रकूट के विवरण किस आधार अथवा आश्रय से करते।

कालिदास ने भी कल्पना-प्रसूतरूप में ही सही जनकतनया स्नानपुण्योदकेषु, कुटज--शिलीन्ध्र आदि पादप मेघ के मार्ग आदि की परिकल्पना कैसे करते हैं - कैसे वे दण्डक परिसर में मन्दाकिनी के चित्रकूट प्रपात के जीवन्त चित्रांकन में समर्थ होते।

भवभूति ने दण्डक में प्रवाहिता यदि तमसा-मुरला में अवगाहन न किया होता तो भगवती लोपामुद्रा के द्वारा मुरला के निकट भगवती भागीरथी का संवाद कैसे प्रेरित करने में समर्थ होते। तमसा दण्डक के अंतर्गत कोरापुट में प्रवाहिता नदी है और मुरला दण्डक के अंतर्गत ही बस्तर के बीजापुर अंचल में प्रवहमान नदी है।

उक्त समस्त कवियों ने अपने ग्रंथों में यदि अधिकांश परिकल्पित भौगोलिक चर्चा की होती तो वे आज परिलक्षित कैसे होते। दण्डक के अंतर्गत स्थित कोरापुट मण्डल में मुदलीपड़ा अंचल है, जहां आदिम प्रजाति बोडो करती है। बोडो प्रजाति की मातृजाति के माथे के केश जन्म के दिन से आजीवन मुड़वा दिते जाते हैं। नारियाँ वृक्षों की छाल के रेशों से मात्र गुह्य अंग ढांकने योग्य स्वल्प वस्त्र खण्ड बुनकर लपेट लेती हैं, उनकी जंघाएं खुली रहती हैं उनके वक्ष खुले रहते हैं। वस्त्र-खण्ड नितांत संक्षिप्त स्वल्प होने के कारण वे भूमि पर बैठ नहीं सकती। उन्हें अपनी जंघाएं मोड़कर बैठना होता है। अन्यथा वे नग्न हो जाएं। उनमें एक परिपाटी-प्रथा प्रचलित चली आ रही है कि सीता-राम के वनवास काल में एक तमसा नदी में नग्न स्नान कर रहीं थी; वे जब अपना घट भरने लगीं, तब उसकी ध्वनि से सचेष्ट बोडो नारियों ने उनसे पूछा -- तुम नंगी कैसे नहा रही हो तुम्हें लज्जा नहीं लगती ? सीता ने उत्तर दिया-मैं जग-माता हूं, तुमने मुझे लांछित करने हिम्मत की कैसे की ? वे रुष्ट हो गयीं उन्हीने बोडो नारियों को शाप दिया कि वे आजन्म अपने केश मुड़वाकर नंगी रहें, अन्यथा उनकी जाति का विनाश हो जायेगा। आजन्म वे केश-मुण्डित नग्न जीवन व्यतीत कर रही हैं। मुंदलीपड़ा जाकर उन्हें देखा जा सकता है।

सीता ने दण्डक के अंतर्गत इन्द्रावती अथवा मन्दाकिनी, तमसा मुरला गोदावरी आदि नदियों में वनवास--काल में, स्नान-अवगाहन तो किया ही था। परिपाटी कथा सत्य है अथवा असत्य यह काल के गर्भ में अगोचर है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सौन्दर्य की नदी नर्मदा -पांच

अमृत लाल वेगड़

परिक्रमा दिन पर दिन मंहगी होती जा रही है। ज्यों-ज्यों जबलपुर से दूर होता जा रहा हूँ, खर्च बढ़ता जाता है। जिसे साथ ले जाता हूँ, उसका पूरा खर्च और अच्छा पारिश्रमिक देना पड़ता है। और इस साल जेब बिलकुल खाली है। परिक्रमा पर कैसे जा सकूंगा ?

भिक्षांदेहि ! परकम्मावासी को भिक्षा मांगने में शर्म कैसी ? भिक्षा कोई भीख नहीं। इसलिए भिक्षा मांगकर भी परिक्रमा पर जाऊंगा।

किससे मांगूं ? कान्ता से ही ! अग्नि को साक्षी रखकर जिसका हाथ पकड़ा है, उसके आगे हाथ पसारने में झिझक जरूर हुई, पर वाणी में जितनी बन सकी उतनी मिठास लाते हुए बोला, 'तुम तो बहुत उदार हो। चि० शरद की शादी के समय बहू के गहने बनवाने के लिए तुमने अपने गहने बिन मांगे दे दिये थे। इस बार परिक्रमा पर जाने के लिये पैसे की सुविधा नहीं हो रही है। तुम अपनी अंगूठी दे दो, तो मेरा काम बन जाये।'

मेरी आंखों में याचना की झलक देखकर कान्ता हंस पड़ी। बोली, 'इत्ती-सी बात के लिए ऐसा स्तुतिगान ! ' फिर तो-

कान्ता ने मुझे अंगूठी दी,
अंगूठी मैंने सुनार को दी,
सुनार ने मुझे रुपये दिये,
रुपये मैंने अंटी से बांधे,
और परिक्रमा पर निकल पड़ा !

ठीक दशहरे की सुबह हंडिया से चले। तारीख है 4 अक्तूबर 1984 और साथी हैं अनिल और श्यामलाल। अनिल मेरा छात्र है, उन्नीस बरस का लंबा, छरहरा नौजवान। श्यामलाल लम्बा, तगड़ा गोंड़ नौजवान है। उम्र उसकी भी उन्नीस है। लेकिन जहां तक इस कठिन यात्रा के कष्ट झेलने का सवाल है, मैं ही उन्नीस हूँ, वे बीस हैं। यात्रा आरम्भ करते समय ज्ञानी दादू, कर्मठ कक्का और फक्कड़ रम्मू की याद सहज ही हो आयी।

हंडिया नर्मदा का मध्य है, इसलिए नर्मदा का नाभिस्थान कहलाता है। अभी तक हमें अमरकंटक पास था, अब समुद्र पास होता चला जायेगा।

रात सीगोन में रहे। सुबह आगे बढ़े। हमारा मार्ग झाड़ी में से है। ओंकारेश्वर की झाड़ी शुरु हो गयी है। सागौन के काफी पेड़ हैं। इसके बड़े-बड़े पत्ते फीके और फट-पुराने लग रहे हैं।

तीसरे पहर जोगा पहुँचे। यहां नर्मदा में एक टापू पर किला है। इस ओर की धारा बन्द हो चुकी थी। चट्टानों पर से होते हुए किले में आ गये। नदी के मध्य में स्थित यह किला किसी परीकथा के किले की याद दिला रहा था। किले के ऊपर से दूर-दूर तक नर्मदा दिखाई दे रही थी। आज सुबह से हम नर्मदा के बीच काफी झाड़ियां देखते आ रहे थे। यहां भी खूब झाड़ियां हैं। पानी के बीच उगी झाड़ियों के कारण नर्मदा अस्त-व्यस्त नजर आती हैं।

सुबह गड़वाट पकड़ कर शाम को पुनः घाट आ गये। शाम का अंधेरा उतरने लगा तो मछुआरों के कई जोड़े अपने-अपने डोंगों में मछली पकड़ने चल दिये। मछुआरा जाल फैलाता, उसकी स्त्री नाव खेती। नदी में ये दूर-दूर निकल जाते, रात किसी टापू पर सुबह घर लौटते। दिन हो या रात, हर पल कोई न कोई मछुआरा कहीं न कहीं मछली की टोह में बैठा दिखाई दे जाता।

सुबह चले। हमारी गड़वाट नदी के पास ही है। झाड़ी में से नर्मदा झांक रही है। और अगर दिखाई नहीं देती है, तो सुनाई बराबर पड़ रही है।

दोपहर को पड़ा मौला। यहां जामदी नदी नर्मदा से मिलती हैं। एक किसान ने अपनी झोपड़ी के आस पास साग-सब्जी लगा रखी थी, लेकिन वर्षा न होने के कारण उसकी बगिया सूख रही थी। हमने उससे सब्जी मांगी। उसने पूरी बगिया खखोरी, तब कहीं तीन गिल्की, दस भिंडी और बीस बरबटी उसे मिलीं।

शाम को बड़केश्वर घाट पहुँचे। यहां लोगों ने बताया कि अब नर्मदा छूट जायेगी, अब ओंकारेश्वर के पास ही मिलेगी। नर्मदा का किनारा इतना दुर्गम है और झाड़ी इतनी सघन कि वहां से कोई नहीं जाता। आप जायेंगे तो भटक जायेंगे और परेशान हो जायेंगे।

लेकिन हम नहीं माने। बलड़ी और बंधानिया के बाद परकम्मावासियों का आसान मार्ग छोड़कर सरई आ गये। यहां से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नर्मदा के किनारे-किनारे चले । छोटी तवा पार करके शाम को जमोटी पहुँचे । चट्टानों में से बहती नर्मदा यहाँ कितनी संकरी हो गयी है ! यही तो नर्मदा की विशेषता है । वह कब विराट में से वामन, द्रुत में से विलंबित, गहरी में से उथली, चौड़ी में से संकरी या नन्ही-नाजुक में से जुझारू हो जाये, कुछ कहा नहीं जा सकता । हल्ला-गुल्ला उसे पसंद है, लेकिन कोमल और शांत बनते भी देर नहीं लगती । बड़ी अप्रत्याशित नदी है यह—आज कुछ, कल बिलकुल दूसरी ।

यहां नर्मदा के मध्य में एक विशाल शिलाखंड ऐसा लग रहा था, मानो कोई प्रागैतिहासिक पशु पूंछ दबाकर बैठा हो ।

जमोटी गांव क्या गंवई भी नहीं । चरवाहों के छह-सात छप्पर भर हैं । दूर-दराज के इस भूले-बिसरे वनग्राम में शायद ही कोई आता होगा । यहां किसी के यहाँ ठहरने की कोई जगह नहीं थी । जायें तो कहां जायें ?

एक ग्रामीण ने कहा, 'आइए जगह बताता हूँ ।'

वह हमें इमली के एक पेड़ के नीचे ले गया । 'यहीं रहिए ।'

वहां गोबर का ढेर लगा हुआ था और हजारों मक्खियाँ भिनभिना रही थीं । यहां कैसे सो सकेंगे ?

'जगह पसंद नहीं ?'

'नहीं ।'

'आइए, दूसरी बताता हूँ ।'

वह हमें इमली के एक दूसरे पेड़ के नीचे ले गया । चुनाव के लायक कुछ था नहीं । वहीं सोये । 'करतल भिक्षा, तरुतल वास ।' करतल भिक्षा की नौबत तो नहीं आयी, पर तरुतल वास तो आज है ।

रात का तीसरा पहर था । दो भैंसे लड़े । एक भागा, दूसरे ने पीछा किया । दोनों मेरे पैर के बिल्कुल करीब से भागे । इनसे रौंदे जाने से मैं बाल-बाल बच गया । मुंह ढांपकर सोया था, इसलिए इस भयंकर दृश्य को देखने से बच गया । वृद्धावस्था में जब पुत्र-परिवार से घिरा बैठा होऊंगा, तब अनायास हो गया यह पराक्रम उन्हें जरूर सुनाऊंगा !

सुबह चले । यहां से हमें गड़बाट मिली । लेकिन थोड़ी ही देर में वह संकरी होते-होते पगडंडी में बदल गयी और आगे जाकर पगडंडी भी गायब हो गयी । हम घने जंगल में घुस आये थे । कभी इधर जाते, कभी उधर और घूम फिरकर वहीं वापस आ जाते । कभी-कभी तो यही समझ में न आता कि हम जा रहे हैं या आ रहे हैं । हमारे चारों ओर अपना चौड़ा सीना ताने घना एकांत जंगल खड़ा था ।

बड़ी मुश्किल से एक पगडंडी मिली । काफी दूर जाने के बाद गायों के गले की घंटियों की आवाज सुनाई दी । कोमल सुरीली

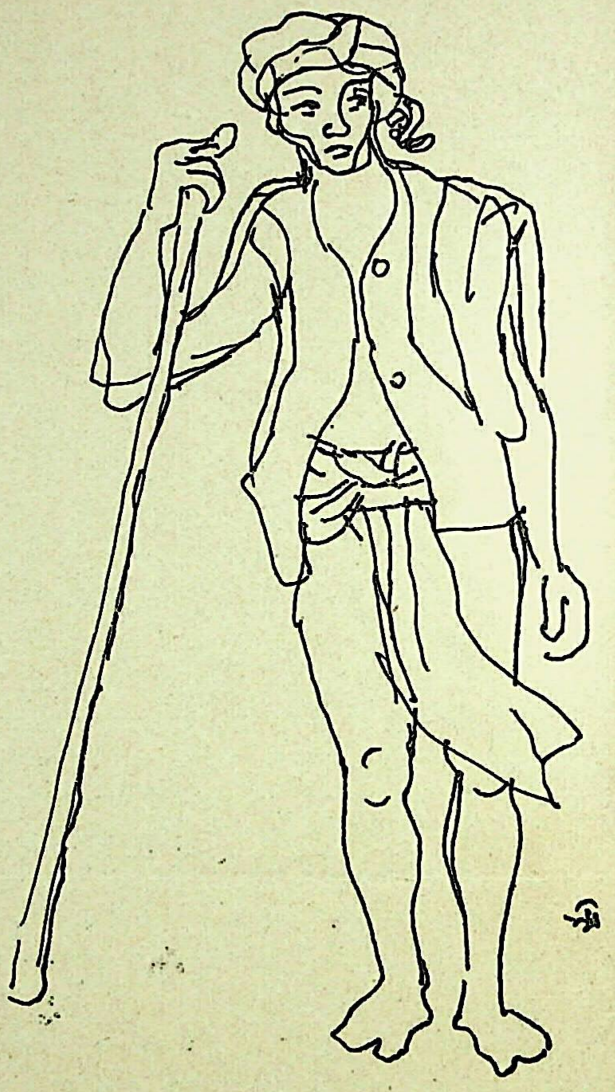

आवाज । वहां जरूर कोई चरवाहा होगा, उससे राह पूंछेंगे । गायों का झुंड तो मिला, पर कोई चरवाहा नहीं था । फिर भी आशा बंधी कि गाये हैं तो गांव भी होगा । काफी चलने के बाद जंगल कम घना हो चला । अचानक पेड़ों में से झांकती नर्मदा दिखाई दी । थोड़ी देर में रामघाट के मंदिर पहुँचे । पास में ढालेकोठड़ा गांव है । एक छोटी-सी नदी आकर यहां नर्मदा से मिली है । इसी संगम पर है यह मंदिर । नदी की रेत में चीते के पैरों के निशान देखे । कुटी के बाबा ने बताया कि रोज रात को ये पानी पीने आते हैं ।

पिछले तीन-चार दिनों से बादल हो रहे हैं । इस साल पानी काफी कम बरसा है । फसलें सूख रही हैं । किसान बड़ी आस लगाये आसमान की ओर जोह रहे हैं । लेकिन पानी है कि बरसने का नाम ही नहीं ले रहा ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आज शरद् पूर्णिमा की रात है। लेकिन न शरद है, न पूर्णिमा बेहद गरमी है और चारों अमावस की रात सा घुप अंधेरा छाया हुआ है।

सुबह उठे तो प्यारी-प्यारी बूंदा-बांदी शुरू हो गयी थी। मिट्टी में से सौंधी सुगंध आ रही थी। आज जा न सकेंगे, यहीं रुकना होगा। शाम तक बूंदा-बांदी थम गयी।

सुबह देखा, रेत में चीते के पैरों के ताजे निशान बने हुए हैं। रेत मानो नदी-तट की विजिटर्स-बुक है, उसमें हर यात्री का नाम अपने-आप दर्ज हो जाता है।

आसमान बिलकुल साफ हो गया है—शीशे की तरह। बोझा लादा और चल पड़े। नदी के दोनों ओर सिर्फ चट्टानें ही चट्टानें हैं। नदी मानो अनंत पथरीले जंगल में से होकर वह रही है।

कल तक नर्मदा वनवाला था, अब शैलवाला है।

ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते गये, नर्मदा संकरी होती गयी। तीसरे पहर अंसिदर आ गये। पास में है पुनासा कालोनी। यहां भी बस चट्टानें ही चट्टानें हैं। चट्टानें मानो नर्मदा के चारों ओर घेरा बनाकर खड़ी हैं। बांध के लिए यह सबसे उपयुक्त जगह है। यहां नर्मदा पर बड़ा भारी बांध बनने जा रहा है। उसके बन जाने पर प्यासी धरती को जीवनदायी जल मिलेगा, वह धन-धान्य से लहलहा उठेगी।

यहां नर्मदा-तट पर किसी बाबा की कुटी खाली पड़ी थी। रात उसी में रहे। अब चट्टानें बड़ी विकट हैं, खड़ी और ऊँची, और पानी उनसे सटकर बहता है। बहुत संभलकर चलना पड़ता है, जरा चूके और गये। कहीं पर्वतारोहियों की तरह सधे पांव ऊपर चढ़ते, तो कहीं चोरों की तरह दबे पांव नीचे उतरते। चिलचिलाती धूप और तप्त चट्टानों के कारण पसीने से नहा उठते। लेकिन मन के उल्लास का क्या कहना!

और नर्मदा—कितनी लचीली है यह नदी! कैसा मोड़ लिया है उसने यहां!

चारों ओर चट्टानों की मानो गड्डी की गड्डी रखी है। एक जगह चट्टानों की उठती-गिरती कतार बंदनवार-सी लहराती चली गयी है। पर अब नदी के किनारे-किनारे आगे जाना संभव नहीं, ऊपर झाड़ी में से जाने के सिवा कोई चारा नहीं। इसलिए झाड़ी में से चले। बढ़ी हुई जंगली घास में कमर तक धंस जाते। घास की नोकें कपड़ों में भिद जातीं और कांटों-सी गड़तीं। बड़ी मुश्किल से एक पगडंडी मिली। लेकिन वह हमें नर्मदा से दूर ले गयी। एक ही नाले को सात बार पार करके एक गांव पहुँचे। वहां से हमें टकारी की गड़वाट मिल गयी। हमारे दोनों ओर घना जंगल था।

श्यामलाल कहता है, जंगल भगवान के लगाये बाग-बगीचे हैं।

मार्ग में एक पेड़ के नीचे छह-सात भील बड़े-बड़े कुल्हाड़े लिये बैठे थे। वे हमें टकारी का मार्ग समझा ही रहे थे कि एक भील स्त्री अपने बच्चे को लिये वहां से निकली। 'लीजिए, यह उसी ओर जा रही है, आप इसी के साथ हो लीजिए।'

इस बियाबान जंगल में इस स्त्री को अकेले जाने में डर नहीं लगता होगा? हम उसके साथ हो लिये। चारों ओर ऐसी निविड़

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निस्तब्धता थी कि हमें लगा, हमारे कानों ने काम करना ही बंद कर दिया है।

टकारी काफी दूर था। पहुँचते-पहुँचते सांझ हो गयी। नमंदा में डुबकी लगा ली, तो थकान दूर हो गयी। गांव में छह-सात झोपड़े ही हैं। एक स्त्री ने हमें आश्रय दिया। झोपड़े में वह थी और उसके वृद्ध पिता थे।

सामान रखा ही था कि बड़े-बड़े चूहे आ गये और हमारे सामान की तलाशी लेने लगे। दो-एक ने तो हमारे ऊपर भी छलांग लगा दी। रात में सोयेंगे कैसे! स्त्री ने कहा, 'बाहर खुले में सोइए, वहां उतना परेशान नहीं करेंगे। सामान सिरहाने रख लीजिए।'

मैंने पूछा, 'तुम्हारा पति कहां?'

'वह गांव पर है। वहाँ हमारी खेती है। यहाँ हम गाय-भैंस चराने आये हैं। यहां चारा अच्छा है। खूब दूध होता है, घी बनाकर बेचते हैं।'

'तुम्हारे बच्चे भी गाँव पर हैं?'

उसका चेहरा कुम्हला गया। गहरी साँस लेकर बोली, मेरे दो बच्चे थे बाबा, दोनों मर गये।

अनजाने ही मैंने उसकी दुखती रग को छू दिया था। उसकी सूनी गोद की उसे याद दिला दी थी। आर्द्र वाणी में वह बोली, 'बच्चा होने की कोई गोली हो तो दो न बाबा।'

कैसी अन्तर्वेदना थी। मन को छू लेने वाली गहराई थी। वह मेरी ओर देख रही थी और जवाब माँग रही थी, अच्छा-सा जवाब, जो उसके जीवन में आशा जगा सके। मैं सहसा बोल उठा, 'तुम दूध पीती हो या चाय?'

'चाय।'

'बस, यही तो गलती करती हो। तुम्हारे घर ढेरों दूध उतरता है, फिर भी तुम चाय पीती हो? दूध पियो, दूध। तुम पति-पत्नी खूब दूध पियो, भगवान जरूर भला करेगा।'

'सच?'

'सच, बेटी, सच।'

उसकी आँखों में चमक दौड़ गयी। प्रकाश की किरण जैसे उसके हाथ लग गयी।

मैं झूठ बोला था। लेकिन उस दिन भी मुझे लगा था और आज भी लगता है कि मेरे इस झूठ में भी सच है।

सुबह चले। दोपहर तक धारा क्षेत्र पहुँच जायेंगे। इस तट पर धारा क्षेत्र, उस तट पर धायड़ीकुंड। यहां नमंदा में छोटे-छोटे कई प्रपात हैं। उनकी आवाज सुनाई देने लगी तो ललचायी अधीरता से आगे बढ़ने लगे। थोड़ी देर में प्रपातों के पास आ गये। यहाँ बड़े-बड़े शिलाखंडों से टकराता हुआ पानी तेज गति से बह रहा था। एक बुवा प्रपात के पास अड्डा जमाया। प्रपात मे से उठते हुए अलकणों में इन्द्र धनुष दिखाई दे रहा था। कैसा छोटा-सा इन्द्र धनुष! जापान में विशाल वृक्षों को बौने कद का बनाकर गमलों में उगाते हैं। इसे बोनसाई कहते हैं। नमंदा ने जैसे यहाँ अपने गमले में बोनसाई इन्द्र धनुष उगाया है।

हवा के झोंकों के कारण इन्द्र धनुष झूलता-सा प्रतीत होता था। इसी लहराते इन्द्र धनुष के पास हमने खाना बनाया। क्या ठाठ हैं हमारे!

हम कानों से जितना सुन नहीं रहे हैं, उससे ज्यादा लोभी आँखों से देख रहे हैं।

उस तट के प्रपात बड़े हैं, लेकिन यहां से दिखाई नहीं देते। प्रपातों के मध्य में एक विशाल चट्टान पर एक मछुआरा जाल फैला रहा था। मैं सोच रहा था कि वह वहाँ कैसे पहुँचा होगा, तभी हमारे पास खड़े मछुआरे ने छलांग लगा दी और उफनती धाराओं को चीरता हुआ वहां जा पहुँचा!

मछुआरे नदी की पहलौठी की संतान होते हैं।

मछुआरों ने हमसे कहा कि अब नमंदा-तट छोड़ना होगा। दूर तक चली गयी किले की दीवार-सी खड़ी चट्टानी कगार भी मानो हमसे यही कह रही थी-यहां मनुष्य के लिए प्रवेश निषिद्ध है।

एक ग्रामीण वहां आया था। उसने कहा, 'यहाँ से गड़वाट से पुनासा जाइए। वहाँ से इन्धावड़ी होते हुए सातमात्रा जाइए। वहाँ फिर नमंदा मिल जायेगी।'

तो हम अब भी पुनासा के ही इर्द-गिर्द घूम रहे हैं! पुनासा जाने की हमारी अनिच्छा देखकर उसने कहा, 'चलिए, मेरे गांव ही चलिए, मेरे घर रहिए। वहां से इन्धावड़ी और भी पास पड़ेगा।'

उसके साथ घने जंगल में से होते हुए उसके गांव भंवराला पहुँचे। उसके घर जाकर आश्चर्य चकित रह गये। जिप्सियों जैसे बड़े घेर के पिंडलियों तक के लहंगे, रंग-विरंगी चोली, छोटी-सी ओढ़नी और बड़ी-बड़ी चूड़ियों के कारण इनकी स्त्रियां कितनी आकर्षक लग रहीं थी!

तो ये बनजारे थे। पुरुषों की पोशाक में तो बनजारों की एक भी विशेषता नहीं रह गयी थी, लेकिन स्त्रियों ने अपना पहनावा ज्यों का त्यों रखा था। इस गाँव में यह नस्ल कहाँ से आ टपकी थी!

एक आंगन को घेरकर इनके छह-सात घर थे और हम इन्हीं के अतिथि थे।

सुबह चल दिये। चिलचिलाती धूप के कारण इन्धावाड़ी पहुँचते-पहुँचते पसीने से नहा उठे। सूरज मानो भूल गया है कि अभी गर्मी नहीं, शरद है, और पूरी ताकत से तप रहा है। आज का ही दिन था, जब सारा दिन नमंदा के दर्शन नहीं हुए थे। रात इन्धावड़ी में रहे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दूसरे दिन दोपहर के पहले सात्रमात्रा पहुँच गये। यहाँ फिर नर्मदा मिल गयी। ऊंचे किनारे के भज्न मंदिर से मैं देखने लगा, कहीं काजलरानी दिखाई तो नहीं देती ! नर्मदा-तट का बस यही छूट गया था। लेकिन वहां घनी झाड़ी के सिवा और कुछ न था। लोग भी कहाँ-कहाँ अपने घोंसले बना लेते हैं !

यहाँ से फिर किनारे-किनारे चले। चट्टानें विकट थीं और कई बार लगता कि अब किनारा छोड़ना पड़ेगा। लेकिन अनिल और श्यामलाल कहीं न कहीं से राह निकाल ही लेते।

कावेरी संगम पहुँचते दोपहर हो आयी। अब ओंकारेश्वर बिलकुल पास है।

थोड़ी देर में माँधाता आ गये। ठीक सामने है ओंकारेश्वर–नर्मदा तट का सबसे बड़ा तीर्थ। ओंकारेश्वर एक दम सामने है, दो मिनट का भी रास्ता नहीं, फिर भी नर्मदा के मध्य में एक टापू पर स्थित होने के कारण परकम्मावासी वहाँ जा नहीं सकता।

ओंकारेश्वर–कितना पास, फिर भी कितना दूर !

मांधाता छोटी-सी जगह है। मकान कम, धर्मशालाएं अधिक। हम एक धर्मशाला में ठहरे। यहां कल भी रहेंगे। बारह दिनों के वनवास के बाद आराम का एक दिन मनाया जा सकता है।

छः

सुबह विष्णुपुरी घाट पर बैठा था। सुबह की गुनगुनी धूप बड़ी प्यारी लग रही थी। सामने है ओंकारेश्वर–पहाड़ी नदी का पहाड़ी तीर्थस्थान। नर्मदा यहां गर्भस्थ शिशु-सी जान पड़ती है। संकरी नर्मदा के दोनों ओर खड़ी चट्टानी कगारें हैं। इस तट पर मांधाता, उस तट पर ओंकारेश्वर (दोनों मिलकर ओंकारमांधाता) और बीच में अलस गति से बहती शांत, नीरव नर्मदा। नदी बहती हुई भी रुकी–सी जान पड़ती है।

सुदूर केरल से आकर बालक शंकर ने यहां गुरू गोविंदपाद के आश्रम में रहकर विद्याभ्यास किया था। वे हमारे देश के सर्वश्रेष्ठ परिव्राजक हैं। भारत की भावनात्मक एकता के लिए उन्होंने जो किया, वह अनुपम है। ऐसे आद्य शंकराचार्य की पावन स्मृति इस ओंकारेश्वर से जुड़ी हुई है। फिर कमल भारतीजी, रामदासजी और मायानंदजी सदृश संतों के आश्रम भी यहां रहे। आज भी नये-नये आश्रम बनते जा रहे हैं।

नर्मदा–तट के छोटे से छोटे तृण और छोटे से छोटे कण न जाने कितने परिव्राजकों, ऋषि-मुनियों और साधु-संतों की पदधूलि से पावन हुए होंगे। यहां के वनों में अनगिनत ऋषियों के आश्रम रहे होंगे। वहां उन्होंने धर्म पर विचार किया होगा, जीवन मूल्यों की खोज की होगी और संस्कृति का उजाला फैलाया होगा। हमारी संस्कृति आरण्यक संस्कृति रही। लेकिन अब ? हमने उन पावन वनों को काट डाला है और पशु-पक्षियों को खदेड़ दिया है या मार डाला है। धरती के साथ यह कैसा विश्वासघात है।

एक आदमी स्नान के लिए आया था। मैंने कहा, 'नर्मदा यहां कितनी संकरी है।'

नर्मदा की यह एक धारा है। दूसरी ओंकारेश्वर के पीछे है।

'हां, कावेरी–संगम के पास हमने नर्मदा को दो धाराओं में बंटते देखा था।'

'कहते हैं, कावेरी नर्मदा से मिली, लेकिन थोड़ी ही देर में दोनों में अनमन हो गयी और कावेरी नर्मदा से अलग हो गयी। ओंकारेश्वर के इस ओर है नर्मदा, उस ओर है कावेरी।'

'दोनों फिर मिलती हैं या नहीं ?'

'जहां ओंकारेश्वर का टापू खत्म होता है, वहीं दोनों फिर मिल जाती हैं। नर्मदा ने आखिर छोटी बहना को मना लिया। इसलिए असली कावेरी–संगम बाद का है, पहला नहीं।'

पहले आगमन, फिर बहिर्गमन, अंत में पुनरागमन ! कल्पना बढ़िया है !

यहां बैठा सामने के घाट को देख रहा हूं। वहां न जा पाने का कोई दुःख नहीं है क्योंकि ओंकरेश्वर दो बार हो आया हूँ। लेकिन अनिल और श्यामलाल से कहा कि तुम जरूर हो आओ। नाव से जाना, पुल से आना।

यहां से मोरटक्का। वहां तक सड़क जाती है, लेकिन हम सड़क से नहीं जायेंगे, नदी के किनारे-किनारे ही जायेंगे।

दोपहर को निकले। लेकिन थोड़ी ही देर में समझ में आ गया कि दोपहर को चलकर गलती की। सूरज सामने रहता है, चट्टानें तंदूर की तरह गरमा गयी हैं और श्यामलाल नंगे पाँव है। लेकिन वह तो शायद दहकते अंगारों पर भी सारा दिन चल सकता है।

कभी चट्टानों से जूझते, कभी झाड़ी से उलझते तो कभी सामने तट की पर्वत-माला से आते हवा के झोंकों का आनन्द उठाते आगे बढ़ रहे थे। कभी रुक जाते, माथे का पसीना पोंछते और आगे बढ़ते। शाम को मोरटक्का के खेड़ीघाट पहुँचे। यहां नर्मदा पर सड़क का पुल है, पास में रेल का पुल भी है। रात यहीं बितायी।

सुबह उठते ही अनिल ने कहा, 'जरा ऊपर देखिए।'

मध्य आकाश में चाँद था। मैंने कहा, सूरज के हिसाब से अभी सवेरा है, लेकिन चाँद के हिसाब से अभी दोपहर है।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

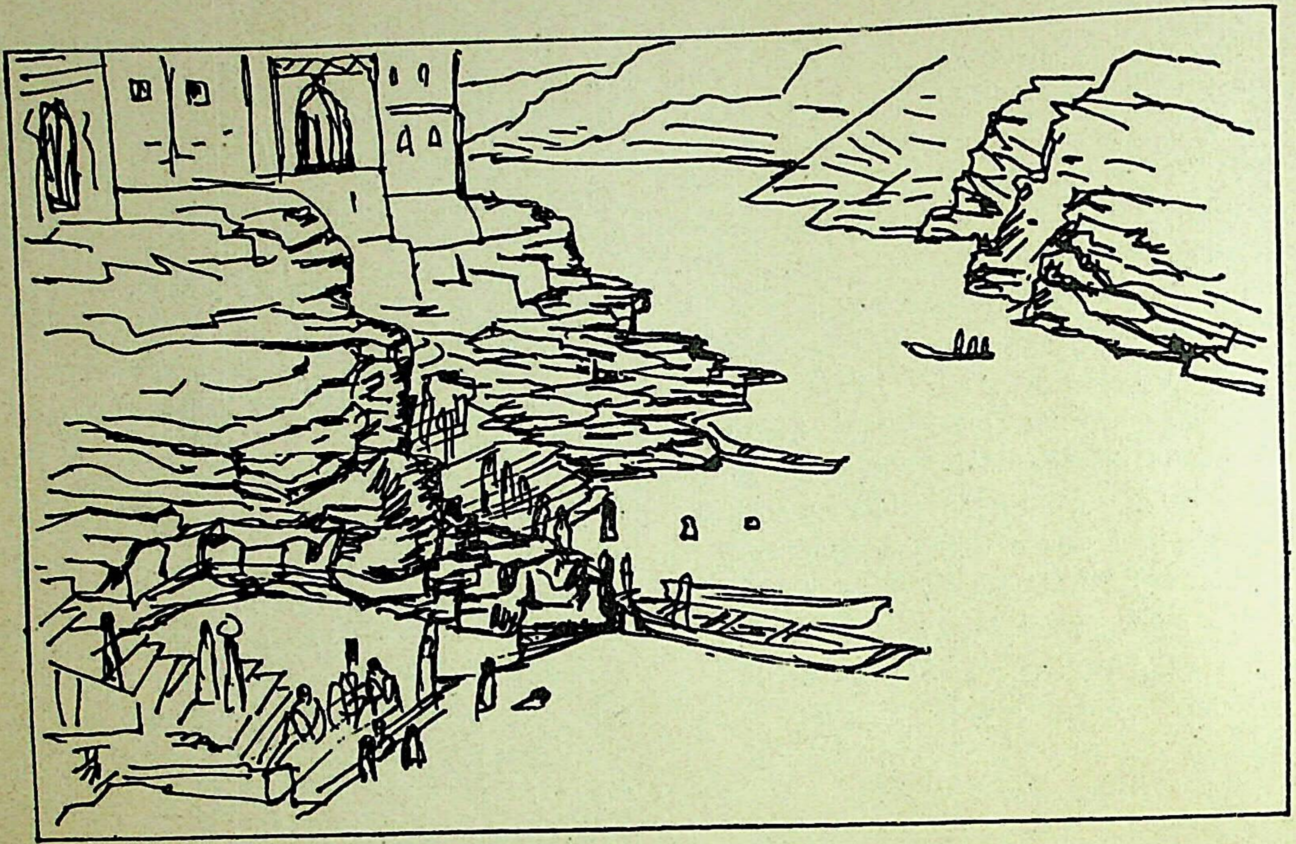

अनिल के लिए यह भले ही विस्मय की बात हो, पर मैं तो चाँद के एक से एक करतब देख चुका हूँ। कभी पूर्ण कुंभ तो कभी बारीक रेखा, उसका बांकपन कभी सीधा तो कभी उल्टा, कभी घटता तो कभी बढ़ता, कभी निकलते ही डूबने की तैयारी तो कभी आधी रात को गायब और भरी दोपहर को हाजिर! क्या कहना इस मनमौजी का!

चांद जब यह सब कर सकता है, तो एक करतब उसे और दिखाना था। सूर्योदय और सूर्यास्त के कारण पूर्व और पश्चिम दिशाओं की छटा देखते ही बनती है। उपेक्षित रह जाते हैं उत्तर और दक्षिण। क्या ही अच्छा होता अगर चाँद उत्तर में निकलता और दक्षिण में डूबता!

चन्द्र का ऐसा अ-पूर्व उदय देखने क्या भीड़ उमड़ती!

यहां से रास्ता आसान है। झाड़ी खात्मा रात गोमुख-बावड़ी में रहे। दूसरे दिन सुबह चल दिये। थोड़ी देर में कांकरिया पहुँचे। नदी-तट पर एक खंडहर-सी धर्मशाला थी। ऊपर छप्पर नहीं था, खिड़की में पल्ले नहीं थे। खिड़की के फ्रेम में से पनिहारिनें ऐसी दीख रही थीं, मानों मैं रंगीन टी वी देख रहा होऊं! खिड़की के पास से देखता तो वाइड व्यू दिखता और हटकर देखता तो क्लोज अप नजर आता! ऐसा लाइव टेलिकास्ट तो संसार का श्रेष्ठतम टी वी सेट भी नहीं दे सकता!

दोपहर को रावेर पहुँचे। यहां नदी-तट पर पेशवा का स्मारक है। वहीं एक पेड़ के नीचे खाना बनाया। जब तक झाड़ी में थे, ईंधन की कोई कमी न थी। लेकिन अब लकड़ी मिलना बहुत मुश्किल हो गया है। थोड़ी-बहुत मिली, बाकी मैं दूर किनारे से ढूंढ़ लाया। बाद में पता चला कि वे चिता की लकड़ियाँ थीं।

शाम को बकावा पहुँचे। वहां नदी किनारे एक चबूतरा था आज का रात्रि-विश्राम इसी चबूतरे पर रहा। यहां से एक संकरी पथरीली सड़क नर्मदा के मध्य तक चली गयी है। स्वच्छ पानी भरने के लिए यह सबसे अच्छी जगह है, इसलिए यहाँ पनिहारिनों की भीड़ लगी रहती थी। जल की सतह से जरा-से उठे हुए इस जलपथ से आती पनिहारिनें जलपरी-सी लग रही थीं। लेकिन ये कोई जल-परियाँ नहीं थीं। ये थीं श्रमबालाएं-कठोर श्रम करती ग्राम-नारियां। लेकिन यह श्रम ऐसा था जो खेल बन गया था। हंसती–किलकती, ठिठोल करती स्वस्थ नारियों को अनुभव ही नहीं हो रहा था कि उनके सिर पर भारी बोझ रखा है, वे नंगे पैर हैं और नीचे ऊबड़-खावड़ पत्थर हैं। वे ऐसे जा रही हैं, जैसे शहर की लड़कियाँ पिकनिक को जाती हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

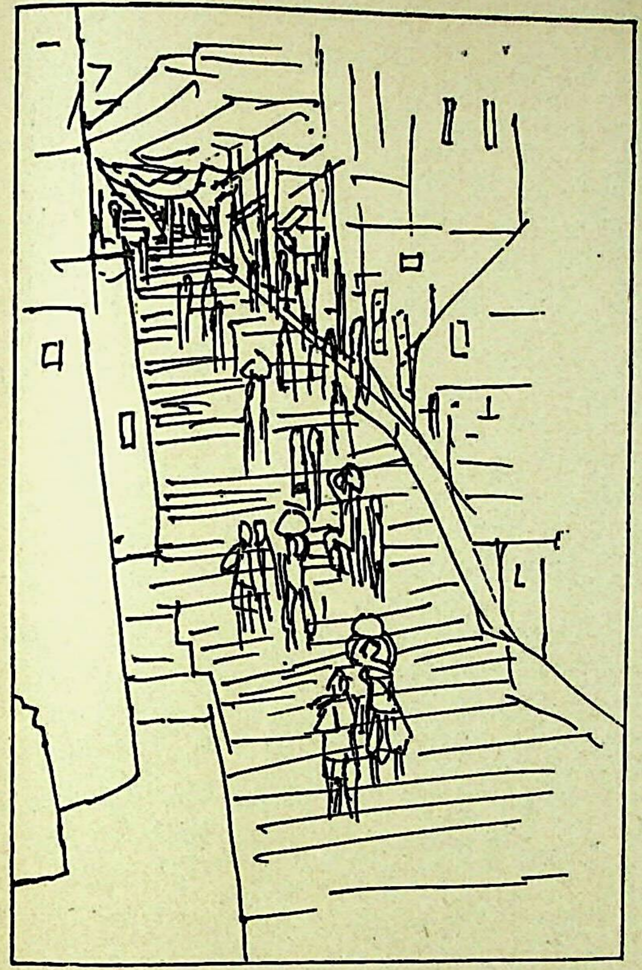

श्रम का यह कैसा उत्सव है ! नित्य महोत्सव ! सबेरे इस इस छोटे-से गाँव से विदा लेते समय इस पावन दृश्य को मैंने मुड़-मुड़कर देखा।

आगे पड़ा मर्दाना। यह गांव कुछ बड़ा है, दो-एक दुकानें भी हैं। अनिल और श्यामलाल सौदा लेने लगे, मैं दूर खड़ा था। वहां एक वृद्ध बैठे थे। उन्होंने कहा, आप सौदा क्यों खरीद रहे हैं ? मेरे यहां सदाव्रत दिया जाता है, च लिए। 'तुला-तुलाया सौदा वापस करना पड़ा।

'यह सदाव्रत कब से चल रहा है ?'

'पचहत्तर साल से पचहत्तर साल पहले मेरा जन्म हुआ था। इस खुशी में मेरे पिता ने यह शुरू किया था, जो आज तक चला आ रहा है। मैंने अपनी जमीन चारों बेटों में बाँट दी है, लेकिन दो एकड़ जमीन सदाव्रत के लिए अलग रख दी है। मैं नहीं रहूँगा, मगर सदाव्रत चलता रहेगा।

जिंदगी तो कुल एक पीढ़ी भर की होती है, पर नेक काम पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता है।

शाम को भटियाने पहुँचे। नर्मदा के बालुई तट पर बसा छोटा-सा गाँव। नदी किनारे पेड़ों के पास एक पक्की छोटी धर्मशाला हैं। इसमें एक दुबले-पतले बाबा रहते हैं। बच्चों-सा सरल स्वभाव। गांव के लोग इन्हें खूब चाहते हैं। कोई तीस बरस से यहाँ हैं। हमें बड़े प्रेम से अपने साथ ठहराया। बातें होने लगीं तो मैं समझ गया कि इनकी मातृभाषा गुजराती है। फिर तो गुजराती में बातें होने लगीं। मैंने कहा, 'इतने वर्षों के बाद भी आप गुजराती भूले नहीं ?'

उन्होंने कहा, 'मातृभाषा को कोई कैसे भूल सकता है ?'

सुबह जब चलने लगे, तो बड़े प्यार से बोले, 'आवजो !' फिर घड़ी भर के लिए वे मानों सन्यासी में से गृहस्थ बन गए थे। विदा लेते मेहनत से कह रहे थे, 'आवजो !' फिर आना !

अगला पड़ाव मर्कटीतीर्थ। निर्जन एकांत में वेदा और नर्मदा के संगम पर स्थित ऊंचे टीले पर एक मंदिर है, उसी में रहे। मंदिर में एक युवा पुजारी है और है उसकी मां - पुजारी की मां ने कहा, 'आज से कोई तीन साल पहले अचानक यह लड़का घर से चल दिया। बहुत ढूंढ़ा पर नहीं मिला। कोई साल भर बाद अमरकंटक से चिट्ठी आयी कि मैं नर्मदा परिक्रमा पर निकल गया हूँ, मेरी, बाट मत जोहना। लेकिन मां का दिल तो है। सोचती थी, परिक्रमा पूरी करने के बाद मेरा बेटा लौट आयेगा। लेकिन परिक्रमा करते-करते इसने तो जोग ही धारण कर लिया।'

एक ठंडी सांस लेकर उसने कहा, 'कोई पन्द्रह साल की उम्र में हमने इसकी सगाई की थी। लड़की के पिता ने सात साल तक इंतजार किया। जब हमने उसके घर लौटने की उम्मीद पूरी तरह छोड़ दी, तब पिछले साल ही उन्होंने अपनी बेटी की शादी दूसरी जगह कर दी। उस लड़की से मुझे कितनी ममता हो गयी थी !'

चूल्हे की आग को ठीक करते हुए उसने अपना कहना जारी रखा, 'बड़ा एकांत है यहाँ। पास में कोई गांव नहीं। मैं और मेरा बेटा, बस हम दो ही हैं यहां। वह तो दिन भर पूजा-पाठ में लगा रहता है, मेरा समय काटे नहीं कटता। यहां रहती हूँ तो घर की याद आती है, घर जाती हूँ तो इसकी चिन्ता सताती है। कल रात को ही यहां दो मुँह वाला सांप निकला था। मैं तो बेहद डर गयी, बड़ी मुश्किल से बाहर निकला।'

बेचारी मां ! उसका दिल दो हिस्सों में बंट गया है। एक हिस्सा यहाँ आया है, दूसरा घर रह गया है।

बाहर खुले में सोये। आकाश साफ था और रात सुहानी थी। तारे इतने पास लग रहे थे कि हाथ बढ़ाओ और छू लो।

सुबह चल दिये। दोपहर तक नावड़ाटोड़ी पहुँच गये। सामने तट पर है महेश्वर-रानी अहिल्या बाई का नगर अहिल्याईबाई अत्यंत कुशल प्रशासक थीं और नर्मदा की परम भक्त थीं। महेश्वर में उनके बनवाये मन्दिर और घाट इस तट से बड़े सुन्दर लग रहे थे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यहां एक सज्जन रहते थे। पहले सरकारी अफसर थे। अच्छी पेन्शन मिलती है। अपनी सारी पेन्शन कुत्तों पर खर्च करते हैं। इस गांव के तो क्या, आसपास के लोग भी इन्हें खूब चाहते हैं। मिलने पर कहने लगे, 'चाय की दुकान की यह बेंच ही मेरा घर है और इस झोली में मेरी सारी गृहस्थी है। गांव के कुत्ते मेरे स्वजन हैं।' फिर धीरे से बोले, 'आदमी से कुत्ते अच्छे।

जीवन के किन कटु अनुभवों ने उनके मन में मनुष्य के प्रति ऐसी कटुता उत्पन्न की होगी।

'देवी-देवता में मेरा कोई विश्वास नहीं। साधु-संतों पर भी नहीं। बाहर से धर्मात्मा होने का ढोंग रचते लोगों को ऊपर से नीचे तक गंदगी में डूबा हुआ देख चुका हूँ। बस, एक नर्मदा को मानता हूँ। मुझे वह हर घड़ी दिखनी चाहिये। बरसात में बाढ़ का पानी जब तक इस बेंच को छूता नहीं, तब तक नहीं जाता। नर्मदा के बिना मैं नहीं रह सकता।'

फिर हंसकर बोले, 'यहां के लोगों ने मुझे खूब प्यार दिया। जब मरूंगा, तब मेरी ऐसी श्मशान-यात्रा निकलेगी कि किसी नेता की क्या निकलेगी। दुःख यही है कि उसे देखने मैं जिन्दा नहीं रहूंगा।'

सुबह जब यहां से चले, तो मन में सहस्रधारा देखने की उत्कंठा लेकर चले। मंडला के सहस्रधारा कई बार देख चुका हूँ, महेश्वर के पास की इस बड़ी सहस्रधारा को पहली बार देखूँगा।

थोड़ी देर में शोर सुनाई पड़ने लगा तो चाल तेज हो गयी। देखते-देखते सहस्रधारा आ गये। नर्मदा यहां खूब फैल गयी है, हजारों धाराओं में बंट गयी है। इन धाराओं में छोटे-छोटे अनगिनत प्रपात फड़फड़ा रहे हैं। चारों ओर धाराओं का जाल सा फैला है। इन आड़ी-टेढ़ी, बांकी-बांकी जलधाराओं से नर्मदा ने यहां मानों झीनी-झीनी बीनी रे चदरिया!

पानी की चादर, जलधाराओं के ताने-बाने, चट्टानों का करघा ऐसी चादर तो बस नर्मदा ही बुन सकती है और ऐसी चादर तो बस धरती ही ओढ़ सकती है।

और यह धारा शब्द नर्मदा के साथ खूब जुड़ा है। अमरकंटक से निकलते ही कपिलधारा और दूधधारा। मंडला की सहस्रधारा। बरमानघाट की सतधारा या सप्तधारा। ओंकारेश्वर के पास धारा क्षेत्र और महेश्वर के पास पुनः सहस्रधारा। कैसी धाराप्रवाह नदी है यह!

विशेषता यह है कि जहां-जहां धारा शब्द आया है, वहां प्रपात जरूर है। चाहे कपिलधारा जैसा ऊंचा प्रपात हो, चाहे सहस्रधारा के इन तितलियों से छोटे-छोटे प्रपात हों। जबलपुर के धुआंधार में धारा का ही तो अनुज है।

पर अब चलना चाहिए। धूप तेज हो रही है। आगे का मार्ग कठिन है। थोड़ी देर के लिए किनारा छोड़ना होगा।

चलते-चलते एक टीले पर आ गये। इस ऊंचे झरोखे से सहस्रधारा के नन्हें-मुन्ने प्रपात एक साथ दिखाई दे रहे हैं। नन्हें-मुन्ने क्या, एकदम दुधमुहे। इनके मुंह से दूध अभी छूटा ही कहां।

ढाल खेड़ा में राघवानंदजी के आश्रम में रहे। यहां किसी ने बताया कि नर्मदा में वह जो टापू दिखाई दे रहा है, एक फ्रैंच युगल उसमें छह महीने तक रहा। बरसात में उस तट पर चला गया। कुछ समय पहले फ्रांस लौट गया।

ऐसी कौन सी डोर होती, जो सात समंदर पार के फ्रैंच नौजवान पति-पत्नी को नर्मदा के इस सुनसान टापू में खींच लायी होगी—सौन्दर्य-पिपासु मन, एकांत साधना की चाह या पश्चिम की आपा-धापी से विलग होकर पूर्व की शांति में डुबकी लगाने की प्रबल इच्छा?

रात को बाहर खुले में सोये। इस बार की यात्रा में नर्मदा में इतने टापू देखे हैं कि रात को आकाशगंगा में भी मुझे अनेक टापू दिखाई दिये!

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुबह चल दिये। आज दिवाली है। दोपहर तक साटक-संगम पहुँच जायेंगे। वहां नर्मदा का प्रसिद्ध खलघाट पुल है। वहीं इस बार की यात्रा समाप्त करेंगे।

थोड़ी देर में हम साटक-संगम पहुंच गये। साटक एक छोटा सा झरना है, लेकिन इसे पार करने में एक नाटक हुआ। साटक में एक नन्हा-सा प्रपात था। उसे देखते हुए मैं पानी में उतरा। उतरते ही काई लगे पत्थर पर से फिसलकर गिरा। किसी तरह उठा कि दुबारा गिरा। साटक ने अपने अंक में मुझे दो बार लिया, इसलिए यह नाटक एकांकी न रहकर द्विअंकी हो गया।

पास में ही एक मंदिर है। मंदिर की देखभाल एक महाराष्ट्रियन महिला करती है। माता के स्नेह से हमें मंदिर में ठहराया। मैंने कहा, 'हमारी इस बार की यात्रा यहां समाप्त हो रही है। कल सुबह घर लौट जायेंगे। अगले साल फिर यहां आयेंगे और दशहरे से आगे बढ़ेंगे।'

'आगे शूलपाण की झाड़ी पड़ेगी। उसके बारे में तो आपने सुना ही होगा।'

सुना क्यों नहीं। कितने ही परकम्मावासियों से कितनी ही बातें सुनी हैं। झाड़ी में तीर-धनुष लेकर भील आते हैं। और सब कुछ लूट लेते हैं। अंत में परकम्मावासी के पास बची रहती है केवल लंगोटी और तूंबी। लेकिन इन्हीं बातों ने हमारे अंदर झाड़ी के प्रति विशेष आकर्षण जगा दिया है।

'राजघाट (बड़वानी) से झाड़ी शुरू होगी। आपके पास यह जो सामान है न, इसमें से कुछ न बचेगा। कपड़े और चश्मा तक उतार लेंगे।'

लंगोटी लगाकर रह लूंगा, लेकिन मेरी स्कैच-बुक ले ली, चश्मा ले लिया तो समझिये मेरे कवच-कुंडल ही उतार लिये। नंगे बदन ठंड कैसे बर्दाश्त होगी।

मुझे कुछ सोच में देखकर उसने कहा, 'एक काम करो। झाड़ी में से मत जाओ, बाहर-बाहर से निकल जाओ।'

नहीं, हर्गिज नहीं। झाड़ी में से ही जायेंगे, चाहे जो हो। हां, एक काम कर सकते हैं। दीवाली छुट्टी के बजाय गर्मी छुट्टी में चलें। गर्मी में नंग धड़ंग रह लेंगे, ठंड बर्दाश्त न होगी।

'हम दशहरे-दीवाली तक इंतजार नहीं करेंगे। अब हम गर्मी में आयेंगे और झाड़ी में से जायेंगे।।'

रात का अंधेरा जल में उतर आया था और काजल सा काला हो चला था। बिस्तर में पड़ा-पड़ा तारों को निहारता मैं गुनगुना रहा था—

जटाजूट बढ़ायेंगे
भिक्षा मांगकर खायेंगे
निर्धन-निर्वस्त्र हो जायेंगे
पर झाड़ी में से जायेंगे।

(क्रमशः)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जगार-88

नवल शुक्ल

जगार आयोजन की शुरुआत पिछले वर्ष की फरवरी माह में हुई। उस साल वसंत जगार के नाम से तीन दिनों का यह आयोजन रायपुर के मोती बाग में हुआ। वसंत जगार का तात्पर्य था वसंत ऋतु में जागृति। बाद में यह सोचा गया कि जगार जिसका आशय जागृति से है, वह स्वयं में पर्याप्त है इसलिये इस आयोजन का नाम जगार ही हो और रायपुर के मोतीबाग में यह कार्यक्रम प्रति वर्ष आयोजित किया जाय।

आयोजन की परिकल्पना के मूल में यह भाव था कि प्रदेश के सभी आदिवासी अंचलों के शिल्पों को एक जगह एकत्र किया जाय। शिल्पियों के लिए अलग-अलग ग्रामीण सामग्री और परिवेश से युक्त झोपड़ियां हों, जहां वे आयोजन के दौरान रहें, शिल्पों का निर्माण करें और स्वयं उसकी बिक्री करें, इसके पीछे उद्देश्य यह था कि प्रदेश के सभी प्रकार के शिल्प और अलग-अलग प्रकारों में काम करने वाले शिल्पी कलाकार एक जगह, एक साथ रहें, वे एक-दूसरे के बारे में जानें समझें। अपने शिल्पों की चर्चा करें और उन्हें बाजार की स्थिति का वास्तविक ज्ञान हो। दूसरी तरफ इस आयोजन की सफलता के पीछे यह आशा थी कि जन समुदाय अपने प्रदेश की कलागत संपन्नता को एक साथ, एक ही जगह देखें। कलाकारों से उनका सीधा सम्बन्ध बने और कलाकृतियों को उसके परिवेश के साथ जान सके।

इन उद्देश्यों और आशाओं की पूर्णता के लिए शिल्प के समानान्तर और उसी के साथ प्रदेश के प्रत्येक आदिवासी क्षेत्र से एक महत्वपूर्ण प्रदर्शनकारी कला का भी चुनाव किया गया था। एक तरफ आदिवासियों की पारम्परिक प्रदर्शनकारी कलाएँ मोती बाग के अलग-अलग मंचों पर होती थीं और शिल्पी अपने शिल्पों का निर्माण और उसकी बिक्री करते थे।

पहले वर्ष आयोजन की आशातीत सफलता और रायपुर तथा रायपुर के आस-पास के ग्रामीण जनों की व्यापक हिस्सेदारी के कारण इस आयोजन की मूल परिकल्पना को यथावत् रखते हुए इस वर्ष कुछ नवाचर भी किये गये। प्रदेश की आदिवासी प्रदर्शनकारी कलाओं के साथ अन्य प्रदेशों के कुछ लोक विधाओ को आमंत्रित किया गया। साथ ही प्रदेश की कुछ प्रतिष्ठित लोक कला रूपों को भी शामिल किया गया।

जगार आयोजन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा जो शिल्पों पर केन्द्रित रहता है, उसका भी विस्तार किया गया। इसमें आदिवासी अंचलों के शिल्पों के साथ ही लोकांचलों के शिल्प और मध्यप्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों के कुछ पारम्परिक वस्त्रों को भी शामिल किया गया, जो हथकरघा से तैयार किये जाते हैं। आयोजन की रूप रेखा को खुला रूप देने के लिये अन्य चीजें भी शामिल की गयीं जैसे सौंदर्य प्रसाधन से संबंधित सामग्रियों की बिक्री के लिए कुछ दूकानें आवंटित की गयीं। मध्यप्रदेश हस्त शिल्प विकास निगम, रेशम संचालनालय को भी शामिल किया गया था। स्थानीय स्वल्पाहार की दूकानें और नगर निगम द्वारा संचालित विभिन्न किस्म की जानकारियाँ थीं।

इस वर्ष जगार का आयोजन सत्ताईस फरवरी से उन्तीस फरवरी तक तीन दिनों का था। मोती बाग को प्रदर्शनकारी कला मंच और रूपंकर कलाओं के स्थल में विभाजित किया गया था, जिसे शिल्प मड़ई का नाम दिया गया था। प्रदर्शनकारी कलाएँ तीन मंचों से संचालित की जाती थीं। एक था जगार मंच या मुख्य मंच। इस मंच पर प्रतिदिन शाम सात बजे से रात्रि दस बजे तक कुछ चुने हुए कलारूपों का प्रदर्शन किया जाता था और प्रतिदिन इस मंच पर कलारूपों को बदल दिया जाता था। जगार मंच पर एक कला रूप की प्रस्तुति एक दिन की होती थी। दूसरे दिन दूसरे कला रूप को स्थान दिया जाता था।

जगार मंच या मुख्य मंच के अलावा बाग के दो अलग-अलग हिस्सों में दो अन्य मंचों की परिकल्पना की गयी थी। मोती बाग का वह हिस्सा, जहाँ फौव्वारा लगा है, उसे फौव्वारा मंच और शिल्पों की निर्माण प्रक्रिया के बीच के बहुत बड़े खाली मैदान को मड़ई मंच के नाम से विभाजित किया गया था। इन दोनों मंचों पर प्रतिदिन दोपहर तीन बजे से शाम छः बजे तक एक साथ कार्यक्रम होते थे। इन मंचों की परिकल्पना ग्रामीण मंच के रूप में की गयी थी। यहाँ रोशनी और ध्वनि विस्तारक यंत्रों का सहयोग नहीं लिया गया था। ये दोनों मंच जमीन के एक गोल घेरे के रूप में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चिन्हित थे। इसके चारों ओर दर्शक अपनी सुविधानुसार बैठकर या खड़े होकर कला रूपों का आस्वाद लेते थे।

शाम के छः बजे से सात बजे के खाली समय पर वन विभाग की ओर से वन्य जीवों पर आधारित फिल्मों का खुला प्रदर्शन रखा गया था। इस प्रदर्शन में आमंत्रित कलाकार और दर्शक अपनी हिस्सेदारी निभाते थे। रायपुर के स्कूली बच्चे प्रतिदिन अपने शिक्षकों के साथ आकर कलाओं से परिचय प्राप्त करते थे।

जगार में काकसार नृत्य, डिटोंग या गेंडी नृत्य, दोर्ला जनजाति का नृत्य, सरहुल नृत्य, मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र की कोरकू जनजाति का नृत्य, कमार नृत्य के अलावा भरथरी, राउत नाचा, राई, तेजा जी की कथा, कमसाले आदि लोक नृत्यों की प्रस्तुति की गई। अंतिम दिन प्रख्यात रंगकर्मी श्री हबीब तनवीर के निर्देशन में सोनसागर चनैनी और जगदलपुर की नाट्य संस्था द्वारा गुण्डाधुर नामक नाटक का प्रदर्शन किया गया।

मध्यप्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों से आमन्त्रित शिल्पों में घड़वा कला के श्री मस्सूराम, फूलसिंह और रामसिंह गोंड़, लौह शिल्प के श्री मगलराम, नानजात और सोनाधर, काष्ठ शिल्प के श्री रामा, मंदर और संतूराम, टेराकोटा के श्री जगदेव, सहदेव, बहादुर और बूटी राम, बांस शिल्प के श्री मंगउ राम मंडावी और गंगउ राम सोरी, चित्रकला के श्री बेलगूर मंडावी, माड़वी अंदो और माड़वी बुदरू, तीर धनुष निर्माण के लिए श्री रूपसिंह भिलाला और जुवान सिंह भिलाला, श्योपुर की खराद कला के श्री अब्दुल सत्तार, अब्दुल खलिक, सरकार अहमद और अब्दुल रउफ के अलावा अनेक बुनकर कलाकारों ने शिरकत किया। सारंगगढ़ की पाट साड़ी, रायगढ़ की डंडा साड़ी और फेरा साड़ी और बस्तर की पारम्परिक साड़ियां उल्लेखनीय हैं। इसमें श्री द्वारका प्रसाद देवांगन और राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त श्री अमृतदास पनिका का काम आकर्षक था।

जगार में शामिल होने के लिए सरगुजा जिले के मैनपाट में निवास करने वाले तिब्बती बुनकर कलाकारों को आमंत्रित किया गया था। तिब्बती जनों को मध्यप्रदेश के एकमात्र जिला सरगुजा के पहाड़ी और ठंडे स्थल मैनपाट में बसाया गया है। यहाँ वे अपने पारम्परिक कलाओं को सुरक्षित रखते हुए अपना जीवन यापन कर रहे हैं। कालीन बनाने में तिब्बतीजन विशेष दक्ष होते हैं। इसी के तहत मैनपाट से श्री ऋंग डी और दवा दौरजे को आमंत्रित किया गया था। इनके द्वारा तैयार कालीन का प्रदर्शन और उनकी बिक्री इस आयोजन का विशेष आकर्षण था। कालीनों में उकेरे गये मोटिव्स तिब्बती जीवन और कला को विशेष रूप से रूपायित करते थे।

जगार आयोजन की सफलता के पीछे सभी वर्गों की उत्सुकता और जिज्ञासा थी। कार्यक्रम में लोगों की रुचि इस तरह थी कि आमतौर पर इस कार्यक्रम को तीन दिन की जगह पाँच दिनों तक जारी रखने की माँग की गयी। जगार में सभी लोगों के शामिल होने और उससे जुड़े होने का भाव इतना प्रगाढ़ है कि आने वाले दिनों में इस कार्यक्रम के साथ विशेष नवाचार, परिकल्पना और दृष्टि सम्पन्नता की माँग हमेशा रहेगी। यदि इन सभी तथ्यों पर लगातार ध्यान जाय तो इस कार्यक्रम से बहुत अधिक सम्भावनाएँ हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सोन-सागर

लोरिक चन्दा की प्रेममयी गाथा

महावीर अग्रवाल

मानवीय संस्कारों की व्यंजना से ओतप्रोत "लोकनाट्य" की परम्परा युगों पुरानी है। लोकनाट्य में लोक मानस का सुख-दुःख उसकी आशा-निराशा, उसका हर्ष-उल्लास, उसका विषाद और उसकी जीवनी शक्ति के साथ-साथ उसकी संघर्ष की भावना प्रतिबंधित होती हैं। लोकभाषाएं विविध जीवन प्रसंगों की रसपूर्ण अभिव्यक्ति लोकनाट्य के माध्मम से करती हैं। इनमें अभिनय के साथ-साथ संगीत और नृत्य का प्रयोग पूरी उन्मुक्तता के साथ होता है। जिससे वे सहज ग्राह्य होते हैं। लोकनाट्य शीघ्रता, सुगमता और सहजता से अपनी बात दर्शकों तक पहुँचाने में सफल होते हैं। इसीलिए आज भी ये गांवों में आकर्षण के केन्द्र विंदु हैं। वहां की जनता में मनोरंजन के सहज, सुलभ और लोकप्रिय साधन क्षेत्रीय लोकनाट्य हैं, जिसे अब शहर के दर्शक और बुद्धिजीवी वर्ग भी सम्मान देते हैं।

मानव का मानव के प्रति सहज प्रेम लोक संस्कृति का साध्य रहा है। श्रम की पूजा के साथ ही पारम्परिक प्रेम की भावना हमारे लोकजीवन का मूल आधार रही है। लोक-जीवन इसी संस्कृति का कुबेर है। छत्तीसगढ़ अंचल में प्रचलित ऐसी ही एक प्रेम के रस में लिपटी लोककथा है—"लोरिक-चंदा"। जिसे म.प्र. आदिवासी लोककला परिषद, भोपाल द्वारा आयोजित "जगार 88" के अंतर्गत रायपुर में 29 फरवरी को हबीब तनवीर ने प्रस्तुत किया।

सरस्वती वंदना के साथ प्रारम्भ "सोन-सागर" (लोरिक चंदा) के गीतों को अपना मधुर कंठ दिया है – मालाबाई, पूनम, नगीन तनवीर, भुलवाराम और बृजलाल ने प्रारम्भ से अंत तक ये गाने गाये, कलाकार कथा गायन द्वारा एक सूत्र को दूसरे में पिरोते हुए नाटक को गति देते हैं। प्रसिद्ध चंदैनी गायक "रमई" अपने गायन और गायन के साथ ही अद्भुत नाचा शैली में कथानक की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते है। लय और ताल में झूमते हुए रमई का प्रस्तुतिकरण और चंदैनी गायन 'सोन-सागर" की दुर्लभ उपलब्धि है। विषय वस्तु के प्रस्तुतिकरण का यह अनोखा ढंग बहुत आकर्षक, सधा हुआ और सहज सम्प्रेषणीय रहा।

चंदा अऊ लोरिक के है ये प्रेम कहानी
हमर देश के चंदैनी......

जैसे "चंदैनी" के गीतों द्वारा और सम्पूर्ण चंदैनी गायन द्वारा "रमई" बताते हैं। राजा मोहर (चंदा के पिता) कितने भाई थे ? उनकी स्थिति पहले कैसी थी ? वे कहां के रहने वाले थे ? सभी भाइयों में बंटवारा कैसे हुआ ? बंटवारे में बूढ़ी गाय किसे मिली ? "सोन सागर" नाम की भैंस का प्रसंग और 'सोन पड़रू' के जन्म और खोज का लोरिक-चंदा की प्रेममयी गाथा से क्या सम्बन्ध है ? पूर्व वचनानुसार राजा मोहर अपनी लड़की "चंदा" का विवाह कठायत के लड़के "लोरिक" से नहीं करता। वरन् दूसरे राजा बौढ़िया के कोढ़ी पुत्र 'बावन' के साथ बचपन में ही कर देता है। बाल विवाह के दृश्य में सजीवता लिए हुए ग्रामीण परिवेश है। कलाकारों को भैंस के रूप में प्रस्तुत करते हुए हबीब तनवीर ने कमाल कर दिया है। लोक कलाकारों की प्रतिभा को नये आयाम दिये हैं। "सोन-सागर" बने हुए गोविंदराम, दीपक तिवारी और भैंस बने हुए बृजलाल, रामचरन, नाथन और "सोन पड़रू" के रूप में बाल कलाकार गोपाल का अभिनय, उनके भैंसों की तरह रखे जाने वाले स्टैप्स और सींग हिलाना काबिले तारीफ है। इसी प्रकार बाल विवाह में छोटे बालक "गोपाल" ने नन्हें दूल्हे की भूमिका अच्छी तरह की है। इनकी वेशभूषा और मेकअप में मौलिकता के दर्शन होते हैं। मोनिका मिश्रा इसके लिए बधाई की पात्र हैं।

अमर सिंह लहरे (कठायत) और द्वारका प्रसाद (कूबिया) ने सूत्रधार की भूमिका का निर्वाह पूरे आत्मविश्वास के साथ किया है। मंच पर तेजी से प्रवेश करते हुए वे कहते हैं:—

दाई हो। ददा हो। भाई हो!
हमर ये कहानी चंदा अऊ लोरिक प्रेम कहानी है।

ये दोनों कलाकार नाटक के बीच-बीच में आकर सूत्रधार के रूप में नाटक को गति देते हैं। अभिनय बहुत सहज और प्रभावोत्पाद है। संवाद अच्छी तरह याद है परन्तु जब दोनों कलाकार एक के बाद एक सूत्रधार के रूप में संवाद बोलते हैं तो उनके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बोलने की गति बहुत तेज हो जाती है। जिससे अनेक संवाद साफ-साफ सुनाई नहीं पड़ते। फिर भी कथा सूत्र को ये कलाकार प्रभावशाली ढंग से आगे बढ़ाते हैं। बीच-बीच में कठायत और कुबिया की भूमिका का भी निर्वाह करते हैं। बठिया की पत्नी फुलिया और दुलिया के रूप में भी इन्हीं दोनों कलाकारों ने ठीक काम किया है। कथा को आगे बढ़ाते हुए वे सूत्रधार के रूप में बताते हैं:—

सुनतरहो दाई हो
सुनत रहो ददा हो
12 साल में लोरिक अऊ चंदा जवान होगे।

नौकर के रूप में प्रारम्भ से ही भुलवाराम के अभिनय की दक्षता की उसकी मौलिक अभिव्यक्ति क्षमता की जितनी तारीफ की जाये कम है। जब भी राजा मोहर उसे कोई काम करने को कहते हैं, तो नौकर (भूएवाराम) अपने विशेष अंदाज में कहता है "सबे काम करेवर भुलवाय हवें का। अभी सब्जी ला काटत हों फेर आटा ला सानहूँ। एक झन मनखे सबे काम कइसे करौं। "मुँहलगे नौकर की यह अभिव्यक्ति बार-बार सामने आती है। इसके साथ ही जब "सोनपड़रू" के पुरस्कार स्वरूप कठायत और कूबिया को पाँच मुट्ठी मोहरें मिलती हैं। सफाई से एक मुट्ठा मोंहरें वह अपने कमिशन में प्राप्त कर लेता है। जब वे शिकायत करते हैं तो बहुत चतुराई से इन्कार कर देता है। भुलवाराम ने दूसरे पात्र 'बठिया' के कुटिल रूप को भी साकार किया है और नाटक के आखिरी हिस्से में साँवर की पत्नी 'मदैनी' के ठेठ ग्रामीण महिला के बहुमुखी रूप को (भुलवाराम) अपने अनूठेपन द्वारा स्मरणीय बना देता है। निर्देशक ने इस प्रसंग में 'मदैनी' की उस आंतरिक मनोवृत्ति को रेखांकित किया है जिसमें वह लोरिक और चंदा के पीछे भागते हुए बावन को सत्कार के बहाने अधिक समय तक रोककर उसे नशे में चूर करके "लोरिक" की रक्षा करती है। तीनों ही रूपों में भुलवाराम ने अपने अभिनय में यथार्थ की अभिव्यक्ति द्वारा दर्शकों का दिल जीत लिया।

दीपक तिवारी (गुरू रजई) के माध्यम से निर्देशक हबीब तनवीर ने पंडितों के आडम्बरयुक्त, लोलुप और अवसरवादी चरित्र पर जमकर कटाक्ष किया है। किस तरह वे विवाह के अवसरों पर दलाली का कार्य करते हैं। नाटक में "विवाह के बाद खाना खाना अशुभ है" इसे गुरू रजई किसी न किसी तरह सिद्ध कर देते हैं। गुरू रजई के रूप में दीपक तिवारी ने हास्य का वातावरण तो जरूर बनाया परन्तु उनके चलने, उठने, बैठने और बोलने में वे अतिनाटकीयता की गिरफ्त में रहे। ओवर एक्टिंग के कारण बहुत सकारात्मक प्रभाव छोड़ने में असमर्थ रहे।

पुतले को जब दूल्हा बनाकर लाया जाता है। तब कहार उसे छुपाने का प्रयास करते हैं। तब बोर्डरहिन के रूप में मदन निषाद के इन ठेठ संवादों को गढ़ने में हबीब तनवीर की पकड़ देखते बनती है। "अरे अलकरहा गोठियावस। दुलहा ला नी देखही त तुम्हर थोथना ला देखही। देखत हवस औ मौला टोनही कहिथे।" पोल खुल जाने के डर से राजा बौड़िया जब उसे इनाम स्वरूप कुछ राशि प्रदान करता है तब इनाम लेने से इन्कार करने की अद्भुत शैली और फिर चुपके से इनाम की स्वीकृति का अभिनय और अपनी संवाद बोलने की शैली अपनी विशिष्ट भंगिमाओं द्वारा दर्शकों को हंसा हंसाकर लोट पोट कर देती है। मदन निषाद का बोर्डरहिन के रूप में प्रस्तुत हास्य प्रसंग एकदम, सहज, सीधे, बिना किसी बनावट के और उन्मुक्त हास्य से ओतप्रोत हैं। मदन निषाद देखने में बेहद निरीह लगते हैं परन्तु उनकी क्षमता, उनकी दक्षता, उनकी प्रतिभा गजब की है।

नाटक का गीत और संगीत पक्ष सामान्य रूप से अच्छा है। देवीलाल (हारमोनियम), नाथन (गोहटी), भगतराम (दपड़ा) अगरदास (तबला) नारायण राव (क्लारनेट) ने अपने साज के माध्यम से गीतों को सुर दिये हैं। "चिट्ठी ये तो लिखथे चन्दा——कांटा अस बोली——रो रो लिखथे चन्दा जैसे अनेक गीत हैं, परंतु वे स्मृति में अथवा जन-जन के अधरों पर नहीं थिरक पा रहे हैं। इसी गीत में पूनम बाई (चन्दा) ने अपनी भावप्रवण आँखों द्वारा मौन रहकर भी अपनी विडम्बना पूर्ण स्थितियों (बावन के लौटने पर) और लगातार झेले जा रहे आघातों को हूबहू चित्रित कर दिया है। बावन (चन्दा का पति) जब अपनी असाधारण शक्ति का प्रदर्शन करता है। पांच काठा दरिया की रोटियां और अनेक गुंडी पानी एक किलो नमक के साथ कोटना में पीता है तब चन्दा अवाक रह जाती है। स्तब्ध होकर चन्दा कैसे विस्फारित नेत्रों से उसे देखती है। इसके बाद ससुराल से भागती हुई चंदा, भागते-भागते बैठकर गीत गाती हुई चंदा, बठिया को जंगल में छकाती हुई चंदा, हाथों में बड़ी-बड़ी परात और पत्थर लाती हुई चंदा, लोरिक को ताना मारती हुई चंदा (ते मुसुआ बनके अपन डौकी के कमरा में खुसरे रहा), मदैनी के व्यंग्यबाण, (दूसर के डौका ला ले के भागे हस) को झेलती और फुँफकारती हुई चंदा, मस्ती और आनन्द में लोरिक के साथ उढ़रिया भागती हुई चंदा, कचरा की नांव बनाकर नदी पार होती हुई चंदा अपनी प्रत्येक मनोदशा की सूक्ष्म से सूक्ष्मतम स्थितियों को आधिकारिक तौर पर दर्शाता है।

उदयराम (लोरिक) श्यामबाई (रानी गहरिन), राजा बौड़िया (देवीलाल) मालाबाई (दौना), बृजलाल (कराकुल) ने अपनी-अपनी भूमिका के साथ न्याय करते हुए संतोषजनक कार्य करने की कोशिश की। रवि सैन, चैतराम, बृजलाल और रमई ने कहार और सैनिक की भूमिका में ठीक रहे। "ते नो जानत ये गाँव साले अलकरहा है" जैसे संवाद तकिया कलाम के रूप में बोलते हुए दब्बू पति (सांवर) की भूमिका में रामचरन बेजोड़ रहे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सर्वाधिक विस्मयकारी और प्रभावशाली अभिनय किया है बावन (कोढ़ी) के रूप में गोविंदराम ने। एक एक कदम और एक-एक शब्द द्वारा अपनी शक्ति और साधना को व्यक्त किया है। मुड़ी हुई अंगुलियों द्वारा कोढ़ का रेखांकन अद्भुत है। "मैं तोर सन रहिके अपन जोग ला नी बिगाड़ों" जैसे संवादों की अदायगी के साथ-साथ "चंदा ला लोरिक के ग्रहण लग गे है" संवाद सुनकर आंखों में उतर जाने वाले यम रूपी क्रोध को, वहशीपन को अपनी विलक्षण प्रतिभा द्वारा प्रभावित किया है। शुद्ध उच्चारण और मंच के लिए अपेक्षित लोचदार आवाज द्वारा गोविंदराम चरित्र से एकाकार होने और संवेदनाओं को सहज उकेरने की कला में दक्ष हैं।

"बावन" द्वारा छोड़े गये ठूंठ बाण को लेकर रमई जब लय और ताल के साथ आगे बढ़ाते हैं तब यह अनोखा बिम्ब निर्देशक की कल्पनाशक्ति का शानदार उदाहरण बनता है। कलाकारों से हबीब तनवीर ने अच्छा काम कराया है। अन्तिम दृश्य में जब बटिया लोरिक को मारने का प्रयास करता है तब चारों ओर से भैंस घेरकर उन सबको सींग मार मारकर भगा देती है। पशुओं का लोरिक के प्रति प्रेम बहुत सधे हुए ढंग से निर्देशक ने दिखाया है। राजा मोहर के चरित्र में आश्वासन के बहाने समकालीन विद्रूप पर भी अंगुली रखी है। उढ़रिया जाते समय लोरिक के संकेत को समझकर चंदा की मां (रानी महरिन) उसे सुखी रहने का आशीर्वाद देती है। अनेक दृश्य ऐसे हैं जो हबीब तनवीर की असाधारण क्षमता की याद दिलाते हैं।

कहना न होगा कि छत्तीसगढ़ी लोक जीवन और लोक संस्कृति की अनन्त शक्ति सम्पन्नता के प्रतीक हैं, यहां के "लोकनाट्य" जिन्हें हबीब तनवीर ने जीवन भर की साधना द्वारा, अपनी अखंड तपस्या द्वारा, विविध प्रयोगों द्वारा, अपनी अन्वेषण क्षमता और वैज्ञानिक सोच द्वारा जीवंत और अधिक गतिशील बनाया है। "गांव के नाम ससुराल मोर नाम दामाद हो या "चरनदास चोर" से लेकर" मिट्टी की गाड़ी" जैसे अनेक प्रयोगात्मक और महत्वपूर्ण नाटकों के साथ। हिरमा की अमर कहानी" तक उन्होंने ऐसे कथानक प्रस्तुत किये हैं जिसमें व्यक्ति नहीं समाज या समुदाय का चरित्र केन्द्र में रहा है। उनकी अधिकांश प्रस्तुतियों कथानक के साथ साथ गीत, अभिनय, अंगरांवा, वेशभूषा, ध्वनि, प्रकाश और संगीत के चरमोत्कर्ष के साथ साथ कसी हुई निर्देशकीय क्षमता की रेखांकित की जाने वाली अद्भुत प्रस्तुतियां रही हैं। इन प्रस्तुतियों में उन्होंने समकालीन राजनैतिक और सामाजिक परिवेश पर बेलाग बेखौफ टिप्पणी की है। हमारी सामाजिक विद्रूपताओं और आर्थिक राजनैतिक, विसंगतियों के उद्घाटन में अपनी असीमित क्षमता का प्रयोग किया है।

इतना सब होने पर भी 29 फरवरी 88 को म.प्र. आदिवासी लोककला परिषद भोपाल द्वारा आयोजित "जगार-88" रायपुर में अपनी प्रस्तुति "सोनसागर" (लोरिक-चंदा) को हबीब तनवीर अपनी ख्याति के अनुरूप नहीं ढाल पाये। हबीब तनवीर के कल्पनाशील मंच विधान, समृद्ध सांगीतिक शैली, प्रभावी रंग प्रस्तुति और भरपूर मनोरंजन क्षमता का स्वर धीमा पड़ गया है। लोरिक-चंदा का पुर्नसृजन करते हुए अनेक गीतों के माध्यम से कथा को कसने का प्रयास किया है परन्तु इस प्रसिद्ध प्रेममयी गाथा का प्रवाह और मूलशक्ति बिखरी-बिखरी है। समूची प्रस्तुति में दूसरे सूत्र और स्थितियों का प्रयोग तो उन्होंने शानदार तरीके से किया है परन्तु ये स्थितियां लोरिक-चंदा की प्रेमकथा पर हावी हो गई हैं। राजकुमारी चंदा और लोरिक के प्रेम की सरसता और प्रवाह कम दिख पड़ता है। इस प्रस्तुति में दो स्थलों पर प्रश्न उठते हैं? पहले शंकर के श्राप से सम्बन्धित बावन का १२ वर्ष तक भटकना और उढ़रिया भगाने वाली रात में चंदा द्वारा मंत्र के प्रभाव से दौना (लोरिक की पत्नी) को सुला देना। "चंदा" के पास अचानक यह शक्ति कैसे आ गई? सच तो यह है कि, लोक से प्राप्त कथा कच्चा माल है। नाटककार अपनी प्रतिभा द्वारा उसे नया रूप देता है। जनचेतना को विकसित करते हुए अनपढ़ लोककथा को सौंदर्य का संस्कार देता है। उसे हूबहू प्रस्तुत करने में अंधविश्वास को बल मिलता है। इन स्थितियों को तर्क सम्मत आधार की जरूरत है। हबीब तनवीर जैसे ख्यातिलब्ध और प्रतिष्ठित नाटककार द्वारा यह कथानक अधिक सुव्यवस्थित होना चाहिए। लोरिक और चंदा का चरित्र गठन अधिक परिमार्जित होना चाहिए।

छत्तीसगढ़ की लोक परम्पराओं में आज भी विपुल संभावनाएं छुपी हुई हैं। लोकजीवन से उपजी इस सांस्कृतिक धरोहर को फिर से जनमानस के सामने प्रस्तुत किया जाना जरूरी है। आवश्यकता इस बात की अधिक है कि, लोककथा का पुर्नसृजन करते समय वहां की माटी से जुड़े नाटककार उस परम्परागत् रचना को अपनी जीवनदृष्टि, अपनी अन्वेषणी शक्ति और अनुभूति को अधिकाधिक प्रमाणिकता के साथ नये संदर्भों में जोड़कर प्रस्तुत करें। उसे गहरी जानकारी द्वारा व्यापक परिवेश में हृदयस्पर्शी बनाये रखें तभी लोककथाओं की पुनः प्राण प्रतिष्ठा की जा सकती है। परन्तु ऐसा करते समय आडम्बर और अन्धविश्वास की परतों को हटाना बहुत जरूरी रहता है। नाटककार की ऐसी ही अनेक विशिष्टताओं और योग्यताओं का उल्लेख करते हुए "भरत" ने नाटकार को विवेकवान, विदग्ध, प्रगल्भ और नित्श्रमी बताते हुए सम्मानित किया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संपदा-88

अर्चना

स्थान धार के विक्रम ज्ञान मंदिर का खुला परिसर/दिनांक, 26-27 मार्च 88। म.प्र. आदिवासी लोक कला परिषद् भोपाल का आयोजन संपदा 88। सबसे पहले संपदा का अर्थ समझ लें पता नहीं क्यों इस आयोजन का नाम सपदा रखा गया और वह भी 88। इसका मतलब परिषद द्वारा संपदा का आयोजन पिछले वर्षों में भी किया जाता रहा है। संपदा का मतलब उस सम्पत्ति से होता है, उस धरोहर से होता है जो मनुष्य के महत्व को बढ़ाती है, संपदा मनुष्य के पीछे इतिहास की तरह गौरव के रूप में भी खड़ी रहती है. वर्तमान में परम्परा की तरह मौजूद होती है। भविष्य में वह उसके काम आये। संपदा के कई आयाम हैं जिसमें धन-दौलत, यश-कीर्ति कला-कौशल ज्ञान-प्रतिभा आदि समाहित होते है। संपदा एक व्यापक अर्थ रखती है फिर पता नहीं क्यों केवल शिल्प मेले का नाम संपदा रखा गया? संपदा में वस्तर और धार झाबुआ के युवा शिल्पियों को बड़ी संख्या में बुलाया गया था। मैंने बस्तर के एक युवा शिल्पकार से पूछा संपदा का अर्थ जानते हो, संपदा का क्या मतलब है? उसने शरमाते हुए कहा—"हम पढ़े लिखे नहीं हैं। का जानू का अर्थ है, लेकिन ऐसे मेले परिषद द्वारा भोपाल और रायपुर में लगाये जाते रहे हैं वही मेला यहां भी लगा फिर मैंने पूछा इसका नाम मेला क्यों नहीं रखा? क्या जाने साब लोग जाने हमकों तो बुलाते हैं हम आ जाते है। सामान बनाते हैं और बेचते हैं।

मालव अंचल के धार क्षेत्र में शिल्प मेला पहली बार आयोजित किया गया। धार के नागरिकों के लिये एक अटपटी और एक नई चीज थी। लोगों ने पहली बार बस्तर के विभिन्न आदिवासी शिल्पों को देखकर आश्चर्य व्यक्त किया। कितने ही लोग पीतल की मूर्तियों को हाथ लगा-लगा कर चले गये। कितने ही लोग भाव पूछ कर आगे चलते बने। कुल मिला कर मेले में 29 शिल्पकार थे। एक लम्बे पांडाल के नीचे दोनों ओर तखत लगाकर बैठाये गये थे। बीच में एक लम्बी कनात दोनों ओर को विभाजित कर रही थीं। गढ़-बेंगाल, नारायनपुर के मुरिया चित्रकार श्री बेलगूर ने धार के जिलाध्यक्ष एस.वी. अय्यर का उपस्थित में दीप-प्रज्जलित कर संपदा 88 का शुभारम्भ किया। बेलगूर, जिनके कई चित्र भारत भवन की वीथिका में लगे हैं। कुछ चित्र दिल्ली में प्रदर्शित हुए हैं। उनसे पूछने पर उन्होंने बताया मैं परिषद् का मेम्बर हूं। पहले भी मुझे चित्रकला के लिए चक्रधर फेलोशिप मिली थी।

पहले दिन संपदा में दर्शकों की भीड़ देखी गई लेकिन शिल्पों की खरीदारी में दर्शकों की बहुत कम रुचि देखी गई। मैं सोचती हूं यहां इस क्षेत्र में ऐसी कलाओं के प्रति कोई खास लगाव या रुझान नहीं है। इसके कारण कई हो सकते हैं लेकिन सबसे बड़ा कारण यह है कि इस अंचल में सौन्दर्य परक कलात्मक शिल्पों का इस तरह व्यवसायिक मूल्य भी हो सकता है इस परिकल्पना का अभाव मालवा के लोगों में सदैव से रहा है। ऐसा नहीं है कि यहां कलाकारों के शिल्प बिके ही नहीं परन्तु जिस तरह की अपेक्षा थी वह पूरी नहीं हो सकी।

संपदा में बस्तर के 19 शिल्पकार अपने परम्परागत शिल्पों को लेकर आये और धार झाबुआ के दस शिल्पकारों ने हिस्सा लिया। संपदा में कुल मिलाकर सात बस्तर के विभिन्न शिल्प थे। बांस, लोह, घड़वाकला, काष्ठकला, टेराकोटा, धनुषबाण, चित्रकला। धार झाबुआ के तीर धनुष, बटुआ, चोमल, मिट्टी शिल्प, छीपा शिल्प, गुडिया शिल्प शामिल थे।

कुक्षी धार के छीपा शिल्प और झाबुआ का आदिवासी गुड़िया शिल्प पहली बार परिषद् के आयोजन में आमंत्रित किये गये इसलिए इस शिल्प और शिल्पकारों के बारे में पहले चर्चा करना गैर जरूरी नही होगा। राष्ट्रपति पुरष्कार प्राप्त श्री इस्माईल सुलेमानजी छीपा काम के परम्परागत प्रतिष्ठित कलाकार हैं उनसे बात करने पर पता लगा भील-भीलाला आदिवासी के इस परम्परागत छापे को उनकी ओढ़नी से निकालकर चद्दरें, गिलाफ, परदों पर लाने वाले वे पहले कलाकार हैं। वे आज भी वनस्पति रंगों का इस्तेमाल करते हैं जो न केवल पक्के होते हैं बल्कि धोते रहने पर रंग और भी निखरते हैं। कपड़ों पर छपाई लकड़ी कलात्मक साँचे से रंग डुबोकर किया जाता है। इस्माइल जी के स्टाल पर सबसे अधिक भीड़ देखी गई। उनकी बिक्री भी अधिक हुई। दूसरे झाबुआ के गुड़िया बनाने वाली शक्ति गिड़वानी और आदिवासी महिला कलाकार आई थी जिन्होंने भीली जोड़े की अनुकृतियां उतारी। झाबुआ की ये कला कोई परम्परागत कला नहीं है लेकिन आदिवासी गुड़ियों के कारण इसका आकर्षण पम्परागग जैसा दिखाई देता है।

श्योपुरकला के अब्दुल खालिद और सरकार अहमद ने हिस्सा लिया। संभवतया इनके स्टाल पर सबसे अधिक,खरीददारी हुई। इसका कारण लकड़ी के सुन्दर खिलौने और घरेलू उपयोग की वस्तुएँ लोगों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की खरीद के पहुँच के अन्दर थी, पलंग के पाये, शहनाई, बांसुरी, चकला, बेलन, खिलौने, गुलदस्ते धड़ाधड़ बिक रहे थे।

बस्तर के धड़वा शिल्पी फूलसिंह बसेरा, रामसिंह गोड़, जयपाल और सुमेर अपनी कलाकृतियों के साथ संपदा 88 में आये। धड़वा शिल्प की बिक्री ज्यादा नहीं हो पाई। उसका कारण अधिक कीमतें होने से बिक्री बहुत कम हो पाई। बस्तर के लौह शिल्प के कलाकार नानजात और सोनाधर अपनी कला के श्रेष्ठ शिल्पी हैं। उन्होंने देवी देवता, दीये, पशु-पक्षी आदि की सर्वाधिक मूर्तियां अपने स्टाल पर लगाई। एक साथ इतनी मूर्तियां दर्शकों को एक अजब संसार में ले जाती हैं। बस्तर के मिट्टी शिल्प में जगदेव, बहादुर और बूटी राम अपने मिट्टी की कलात्मक मूर्तियां लेकर उपस्थित हुए। अलंकारयुक्त हाथियों की जोड़ी संपदा का विशेष आकर्षण थी बस्तर के काष्ठ शिल्पी श्री रामा और पंडी लकड़ी की विभिन्न मूर्तियां कुल्हाड़ी और कंघियां लेकर आये थे। बांस शिल्प में गागरू राम सौरी और श्री मंगऊ राम हुकनी पिसव (वहुबा) झापी पर्रा, बिझवा आदि लेकर आये थे। बांस शिल्प में सबसे आकर्षक पिसवा यानि बट्टवे का था। बस्तर की चित्रकला में वेलगूर मांडवी का नाम चिरपरिचित है। वेलगूर अपने चित्रों में अपनी जाति परम्परा के प्रतीकों का प्रयोग करते हैं।

झाबुआ के भीलों में कई शिल्प मौजूद हैं पिथौरा, मिट्टी के घोड़े, पत्थर और लकड़ी के गातले, तीर-कमान, गलसन बेड़ी, बटुवे, चोमल आदि प्रमुख हैं। मिट्टी शिल्प में झाबुआ के घोड़े शिल्पकला के उदाहरण हैं। भील दिवाली पर अपने देवी देवताओं को घोड़े चढ़ाते हैं। ये घोड़े मिट्टी शिल्प के उत्कृष्ट नमूने हैं। भीलो के कलात्मक चोमल और बटुएं बनाने की परम्परा है। प्रत्येक भील महिला इस कला में पारंगत होती है। चोमल-बटुआ बनाने वाली दो श्रेष्ठ महिला कलाकार श्रीमती भंगड़ीबाई और राजबाई संपदा-88 में शामिल हुई। जो पहले भी लोकरंग और जगार में शामिल हो चुकी थीं। भीलों में तीर-धनुष बनाना प्रत्येक युवक जानता है उसका कारण भीलों में धनुष-बाण रखने की प्राचीन परम्परा है। रूपसिंह तीर बनाने की इस पैतृक कला के श्रेष्ठ शिल्पी हैं। भुवानसिंह तीर-धनुष बनाने में पारंगत शिल्पी हैं।

संपदा-88 का दूसरा प्रमुख आकर्षण आदिवासी नृत्य थे जो लकड़ी निर्मित खुले मंच पर प्रतिदिन प्रदर्शित किये गये। मुख्य मंच के अलावा आदिवासी नृत्य मेले प्रांगण में भी किये गये जिसका आनंद धार के निवासियों ने बड़ी उत्सुकता के साथ पहली बार उठाया।

धार में बस्तर के मुरिया आदिवासियों के नृत्यों को देखने का पहला अवसर था इसलिए लोगों में दोनों दिन बस्तर के आदिवासियों की वेशभूषा और नृत्य देखकर एक अजीब-सा कौतूहल बना रहा।

मुरिया लड़के लड़कियां जहां भी पहुँचते थे वहां भीड़ जमा हो जाती थी। मुरियाओं में ककसार, गेंड़ी और माओपाटा आदि कई परम्परागत नृत्यों की लम्बी परिपाटी है। नयागाँव व नारायणपुर के रामूराम पटेल का प्रसिद्ध नृत्य दल धार में आमंत्रित था। उन्होंने जब गेंड़ी नृत्य लकड़ी की गेंड़ी पर चढ़कर विक्रम ज्ञान मंदिर के खुले परिसर में प्रस्तुत किया तो दर्शकों की भीड़ जमा हुई। इसी तरह मुख्य मंच पर दोनों दिन गेंड़ी के साथ मुरियादल ने ककसार नृत्य प्रस्तुत किया। माओपाटा मुरिया जनजाति की एक शिकार नाटिका है इसे भी रामूराम के दल ने अपनी पारम्परिकता के साथ दिखलाया। बस्तर के आदिवासियों के इस प्रमुख नृत्यों को मालवचंल में संभवतया पहली बार प्रस्तुत करने का श्रेय परिषद् को ही जाता है।

धार झाबुआ में निवास करने वाली आदिम जनजाति भीलों को कौन नहीं जानता। भीलों के साथ भगोरिया नृत्य उसी तरह प्रसिद्ध है जिस तरह बस्तर के मुरियाओं का ककसार नृत्य। धार क्षेत्र की भगोरिया पार्टी श्री भानुशंकर गहलोत लाये थे। उन्होंने भगोरिया नृत्य उसी तेजी और तन्मयता से प्रस्तुत किया, जिसके दर्शन भगोरिया हाटों में होते हैं। भीलों द्वारा और भी कई परम्परागत नृत्य प्रस्तुत किये गये। इसके साथ धार ने सिखी जाति के परम्परागत नृत्य प्रस्तुत किये गये। सिखी नृत्य खासतौर से ढोल और थाली पर किये जाते हैं। पुरुष स्त्री का पात्र बनकर नाचते हैं। सिखी नृत्यों में आरती नृत्य अत्यधिक पसंद किया गया।

प्रदेश के आदिवासी अंचलों के प्रमुख शिल्प और शिल्पकारों की उत्कृष्ट कला के प्रदर्शन और बिक्री के अवसर प्रदान करके जितना प्रयास परिषद् द्वारा किया जा रहा है वह प्रशंसनीय तो है ही साथ ही यह प्रश्नचिन्ह भी खड़ा होता है कि भविष्य में इन लोक आदिवासी शिल्पों को वैसी प्रतिष्ठा, मानसम्मान और व्यापक प्रचार मिल पायेगा जिस प्रकार किसी आधुनिक शिल्प का और शिल्पकार को मिलता है?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लोक कलाओं का प्रतिष्ठित आयोजन : लोकरंजन

अभिनव तैलंग

10 मार्च से 16 मार्च 1988 के दरम्यान खजुराहो में "म.प्र. आदिवासी लोककला परिषद" का सात दिवसीय महत्वाकांक्षी और विशिष्ट आयोजन "लोक रंजन" हुआ। देश के विभिन्न भागों से आईं लोक नाट्य मंडलियों के लिए तो यह एक राष्ट्रीय मंच था ही, देशी-विदेशी पर्यटकों और खजुराहो के निवासियों, कलाप्रेमियों को हमारे देश की लोक संस्कृति से परिचय पाने का, घुलने-मिलने का एक अच्छा मौका भी था। दो वर्ष की उम्र का होने के बावजूद लोकरंजन भारी जन स्वीकृति पा चुका है। इसका कारण है उसका आम लोगों से गहरा जुड़ाव और निःशुल्क होना।

सप्ताह भर चर्चा का विषय बने लोकरंजन की शुरुआत राजस्थान से आई "ख्याल" मंडली से हुआ। इसमें आम जीवन में प्रचलित धार्मिक, सामाजिक कथाओं को लेकर मनोरंजन करने का प्रयत्न किया जाता है। ख्याल में जहां बंधी-बंधाई नाट्य शैली है वही कथाओं की विविधता और श्रेष्ठता भी। संभवतः यह उन लोक शैलियों में से एक है जिन्होंने अपनी उच्चस्तरीय परम्परा के साथ अधिक छेड़-छाड़ करने का दुष्कर्म नहीं किया है, हां कुछ समय को देखकर परिवर्तन अवश्य हुए हैं परंतु उससे वह समृद्ध और बहु-स्वीकृत ही हुई है। यूँ तो "ख्याल" आपंरा क्षेत्र की उपज है पर इसे प्रचार-प्रसार और पोषण देने का काम राजस्थान में हुआ है।

राजस्थान में ख्याल की विभिन्न शैलियां हैं, जो "हाथरसी ख्याल", "माच ख्याल", 'तुर्राकलंगी के ख्याल", कठपुतलियों के ख्याल", 'मेवाड़ी ख्याल", "गंधर्वों के ख्याल", "दंगली ख्याल", "किशनगढ़ी ख्याल" आदि के नाम से जाने पहचाने और सराहे जाते हैं। यहाँ दो तरह के ख्याल कलाकार पाए जाते हैं, एक वे जो महज शौक के लिए ख्याल की प्रस्तुति करते हैं और दूसरे जिनकी रोजी-रोटी ख्याल का प्रदर्शन कर चल रही है।

मार्च की ग्यारहवी तारीख को मालवा क्षेत्र, उज्जैन से आये सुपरिचित और माच के लिये समर्पित व्यक्तित्व श्री सिद्धेश्वर जी-सेन और उनका पुत्र श्री प्रेमकुमार सेन अपनी माच मंडली के साथ लोकरंजन के मंच पर पधारे। श्री सेन "मालवा लोक नाट्य माच मंडल" नाम से एक व्यावसायिक संस्था भी चलाते हैं, जो देश के विभिन्न भागों में जाकर माच के माध्यम से जनचेतना फैलाने का दायित्व भी निभा रही है।

श्री सिद्धेश्वर जी सेन ने अपना कैरियर 15 वर्ष की उम्र से मन्दिरों में भजन वगैरह गाकर शुरू किया और बाद में वे माच के हो गए। अब तक उनके लिखे 23 से अधिक माच, जिनकी विषय वस्तु दहेज, आतंकवाद, शिक्षा, हिंदु मुस्लिम एकता, परिवार नियोजन, पौराणिक और राजनैतिक हैं, दिल्ली, गुजरात, हरियाणा, बिहार, मध्यप्रदेश आदि क्षेत्रों में ख्याति पा चुके हैं।

खजुराहो में श्री सिद्धेश्वरजी सेन और उनकी मंडली ने बहु प्रचलित कथा "राजा भर्तृहरि" प्रस्तुत की। इस कथा में राजा भर्तृहरि अपनी तीन रानियों में एक रानी को सबसे अधिक प्रेम करते हैं जिस कारण से उसे अपने ऊपर गर्व है। रानी की परीक्षा लेने के लिए राजा संदेशा भिजवाते हैं कि महाराज स्वर्ग सिधार गये। अपने विधवा होने का समाचार पाते ही रानी सती हो जाती हैं। अब राजा अपने को खूब कोसते हैं और अंत में बाबा गोरखनाथ के पास अपनी प्रिय रानी के मृत शरीर में पुनः प्राण प्रवाहित करने की प्रार्थना करते हैं। इसी तरह यह कथा आगे बढ़ती है। कथा के बीच में दर्शकों के मनोरंजन हेतु एक शिकार प्रसंग आता है, जिसमें गांव में आतंक फैलाने वाले शेर को मारने के लिए एक जोकर किस्म का पात्र आगे बढ़ता है और अपने हाव-भाव और संवादों के जरिए बच्चों को ही नहीं बड़े, बूढ़े दर्शकों को भी खूब हंसाता है।

माच की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि संभवतः यह अकेली शैली है जिसका जन्म शहर में हुआ है इसके बावजूद इसने ग्रामीणों और शहरियों को समान रूप से अपने आकर्षण में समेटा है।

अगले दिन सांगली (महाराष्ट्र) से आया एक लोकनाट्य "तमाशा" प्रदर्शित हुआ जिसके मुखिया थे जुड़वा भाई कालू-भालू यद्यपि उनकी प्रस्तुति ने बुद्धिजीवियों को गहरी निराशा पहुंचाई क्योंकि उनके द्वारा प्रस्तुत तमाशा बंबइया संस्कृति की चपेट में बंधा था। तृतीय श्रेणी की फिल्मों के गाने, मिथुन चक्रवर्ती, गोविन्दा स्टाइल ठुमके और लटके-झटके तमाशा का मूल स्वर बन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गए थे। एक कला समीक्षक ने इस सम्बन्ध में टिप्पणी की कि ऐसी ही मंडलियां तमाशा जैसे जन स्वीकृत शैली को "तमाशा" बनाने का षड़यंत्र कर रही हैं। इन सब टिप्पणियों के बावजूद सांगली से आया यह तमाशा क्षेत्रीय लोगों को खूब पसंद आया, खूब तालियां और वाह-वाही हो रही थी उनके प्रदर्शन के दौरान। मंडली में शामिल बीस वर्षीय शैलेन्द्र ने तमाशा में बंबइया लटके-झटके शामिल करने के कारण बताया, दूसरी तमाशा मंडलियों की प्रतियोगिता। वह कहता है कि अधिकांश मंडलियों ने अपने फूहड़ता की श्रेणी में ला रखा है और जनता वही पसंद करने लगी है। अपने पेट की खातिर हम भी उन्हीं की राह पर चलने पर मजबूर हैं।

आयोजन का विशिष्ट कार्यक्रम था कर्नाटक से आया प्रसिद्ध "यक्षगान" जिसके निर्देशक थे यक्षगान को राष्ट्रीय स्वीकृति दिलाने की दिशा में प्रयत्नरत श्री शम्भूनाथ हेगड़े। उन्होंने "कृष्णलीला" पेश की। यद्यपि उनकी प्रस्तुति लोगों की धार्मिक भावनाओं से जुड़ी हुई थी परन्तु संवाद कन्नड़भाषी थे, जिस कारण दर्शकों की जितनी वाह-वाही उन्हें मिलना चाहिए थी, वह नहीं मिल सकी। श्री शंभूनाथ हेगड़े और उनकी मंडली को उसी दिन निकलना था इस कारण उन्होंने अपनी कथा प्रस्तुति जल्दी समेट ली जिसका मलाल यक्षगान को देख रहे हर दर्शक को रहा, यह श्री शंभूनाथ हेगड़े की सबसे बड़ी जीत कही जा सकती है कि दर्शक और भी देखना चाहते थे।

लोकरंजन का एक दिन बिहार के छपरा जिले से आए "विदेशिया" तथा बुन्देलखण्ड का लोक नाट्य "कान्हड़ा" हेतु नियत था। "विदेशिया" लोक नाट्य शैली एक स्वतंत्र नाट्य शैली के रूप में मान्यता दिलाने में "विदेशिया" नामक नाटक की अच्छी भूमिका रही है। वैसे तो इसके जन्मदाता गद्दराय थे पर उसे अखिल भारतीय मान्यता दिलाने का श्रेय भिखारी ठाकुर को दिया जाता है। विदेशिया नाटक की कथा है एक विदेशिया नामक युवक पैसा कमाने के लिए अपनी पत्नी को गाँव में छोड़कर विदेश यानी कलकत्ता चला जाता है और वहां एक वेश्या के चंगुल में उलझ कर अपनी पत्नी को भूल जाता है। इस नाटक में अपने पति का इंतजार कर रही वियोग की आग में जलती पत्नी की मनोस्थिति का बड़ा मार्मिक वर्णन किया गया है जिसे देखकर अधिकांश दर्शकों का हृदय भर जाता है।

अगली प्रस्तुति कान्हड़ा की थी जो धोबी, कोरी (बुनकर), धीमर (रेकवार, मछलीमार), कुम्हार आदि पिछड़ी जातियों का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लोकनाट्य है। इस नृत्य को विवाहोत्सव, गणेश-दुर्गा, काली उत्सवों तथा बाल बच्चे होने पर प्रस्तुत किया जाता है। खजुराहो में आयोजित लोकरंजन में प्रस्तुत कान्हड़ा के निर्देशक थे श्री लक्ष्मीनारायण रजक। श्री रजक ने अपनी इस प्रस्तुति में रेकड़ी नामक वाद्य भी बजाया। "नौदुर्गा मण्डल" की स्थापना श्री लक्ष्मीनारायण रजक ने 15 वर्ष पूर्व की थी। इसे कन्हड़ा को प्रतिष्ठा दिलाने का सौभाग्य प्राप्त है। संगत कर रहे कलाकार थे सर्वश्री गोकुल प्रसाद (मृदंग) कालूराम (खंजरी), कुंजीलाल (लोटा)।

छठवें दिन छत्तीसगढ़ क्षेत्र का प्रख्यात लोक नाट्य नाचा का प्रदर्शन था। नाचा के लिए पूरे देश में जाने जाने वाले श्री गोविन्दराम निर्मलकर यहाँ अपनी मंडली को लेकर आए थे जिन्होंने "लमसेना की बहू" नामक नाटक का प्रदर्शन लोकरंजन के मंच पर किया। इसके निर्देशक थे श्री निसार अली। इस गम्मत के पात्र थे श्री रामलाल निर्मलकर, पुरुषोत्तम भट्ट, सुखलाल साहू, संतुराम नेताम, बिसौहा सेन आदि। संगत कर रहे कलाकार थे श्री बल्देव यादव (मंजीरा), बाबूलाल कुरदवंशी (ढ़ोलक), शत्रुघन गंगैल (तबला), चिताराम मेश्राम (हारमोनियम) और श्री दयाल विश्वकर्मा (बैंजो)।

लोकरंजन का अन्तिम दिन कानपुर से आई नौटंकी मण्डली का प्रदर्शन था, जो गुलाबबाई की नौटंकी के प्रति समर्पित पुत्रियां रेखा तिवारी और आशा तिवारी ने संयोजित की थी। श्रीमती गुलाबबाई अपनी वृद्धावस्था और अस्वस्थता के कारण खजुराहो नहीं जा सकी थीं। नौटंकी में उनके दिए योगदान और समर्पण की एवज में संगीत नाटक अकादमी का नेशनल अवार्ड, उत्तरप्रदेश की संगीत नाटक अकादमी का प्रादेशिक पुरस्कारों के अलावा गुलाबबाई अनेक दूसरे पुरस्कारों से अलंकृत हो चुकी हैं।

नौटंकी की जन स्वीकृति का सबसे बड़ा कारण यह है कि इसमें संवादों को काव्यात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम से जनता तक पहुँचाया जाता है। कानपुर से आई इस मण्डली ने जो नाटक प्रस्तुत किया उसका नाम था "जहाँगीर का इंसाफ"। यह उस प्रख्यात न्याय कथा पर आधारित है जिसमें बादशाह जहाँगीर ने अपनी बेगम नूरजहाँ के अपराध हेतु स्वयं को मृत्यु देने की घोषणा कर दी थी।

इस दिन की प्रस्तुति के संगत कलाकार थे श्री रामप्रसाद (हारमोनियम), मुन्नीलाल (नक्कारा), राजेन्द्रकुमार (ढ़ोलक)। नौटंकी में सभी प्रकार की कथाओं का समावेश होता है—ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक। राजा हरिश्चन्द्र, अमरसिंह राठौड़, दहीवाली, सुल्ताना डाकू, भक्त पूरनमल, कत्लजान आलम, नौटंकी, शहजादी आदि नौटंकी के बहु प्रदर्शित नाटक हैं।

गुलाबबाई की नौटंकी के निर्देशक थे मथुरा के कल्लू मास्टर। आशा तिवारी (नूरजहाँ), रेखा तिवारी (धोबन), मुन्नी देवी (संग्रामसिंह की पत्नी), अल्लाह प्यारे (संग्रामसिंह) और तिलकराज (मंगलसिंह, नायक) की भूमिका सराहनीय थी। धोबन के रूप में रेखा तिवारी का नृत्य बहुत ही अच्छा था। स्व. त्रिमोहन उस्ताद द्वारा रचित इस नाटक को दिल्ली में हुए 'अपना उत्सव' में भी प्रदर्शित किया जा चुका है।

कुल मिलाकर सात दिनों का यह लोकरंजन अपनी मधुर स्मृतियों को छोड़ता सम्पन्न हुआ। इस आयोजन को लोक नाट्यों और लोक कलाकारों के हित और सामाजिक प्रतिष्ठा दिलाने का श्रेय जाता है। देश भर के दर्शकों को क्षेत्रीय लोक नाट्यों से परिचित कराना तो इस आयोजन का उद्देश्य है ही साथ ही वे अपनी परम्परा से हटे नहीं, फूहड़ता की श्रेणी में न आए, यही सीमा निर्धारित करना भी इस आयोजन का उद्देश्य है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

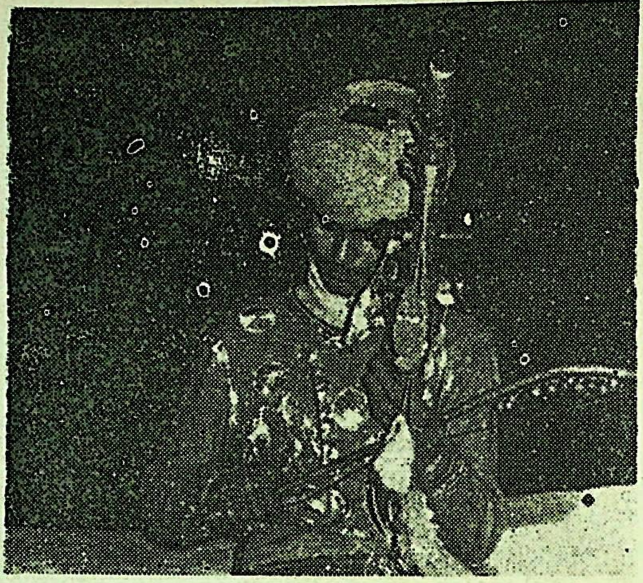

भोपाल में कथा गायन प्रसंग-88

सुनील मिश्र

लोक संस्कृति के संवर्धन के लिए भोपाल में अनेकों मंच है जहां आयोजनों की निरन्तरता के जरिये महत्वपूर्ण अभिव्यक्तियों की पहल जारी रहती हैं। हमारी परंपरायें चिरस्थायी है लेकिन इनको अपने हृदय पटल पर अंकित किये रखना दूभर होता जा रहा है। इन परिस्थितियों में इनकी सक्रियता और निरंतरता बनाये रखने की गरज से अनेकानेक आयोजन हुआ करते हैं' पिछले दिनों 24 फरवरी को एक ऐसा ही आयोजन भोपाल के रवीन्द्र भवन में खलपाटी मंच पर हुआ। यह आयोजन था "कथा गायन प्रसंग 88" का। आयोजन में छत्तीसगढ़ की शीर्षस्थ पंडवानी गायिका पद्मश्री अलंकृत श्रीमती तीजन बाई और राजस्थानी भोपा शैली के प्रसिद्ध भोपा गायक नाथूराम ने हिस्सेदारी की।

तीजन बाई का पंडवानी गायन और नाथूराम के पाबूजी की पड़ गायन से दर्शकों का समुचित मनोरंजन तो हुआ ही साथ ही भोपा गायिकी से भी पहले-पहल भोपाल के दर्शकों का सांक्षात्कार हुआ। पंडवानी के बारे में खासकर मध्य प्रदेश का श्रोता और दर्शक अपरिचित नहीं है। पांडव के शाब्दिक अर्थ से पंडवानी शब्द की उत्पत्ति हुई है। छत्तीसगढ़ में महाभारत प्रसंग के गायन की पंडवानी एक निजी शैली है जो वहां के क्षेत्र में उत्साहपूर्वक गायी जाती है और रुचिपूर्वक सुनी भी जाती है। तीजन बाई ने बचपन से ही इस गाथा को पूरी तन्मयता के साथ आत्मसात किया। हाथ में तंबूरा लिये पूरे साज श्रृंगार के साथ जब तीजन बाई गाने को खड़ी होती हैं तो हर बार उनकी चिर परिचित मुद्रा की याद हो आती है। कथा गायन प्रसंग में भीं तीजन बाई का जांना पहचाना रूप देखने को मिला। ताल ठोंककर बुलंद आवाज में पंडवानी गाते हुए वे अपनी पुरानी किंतु प्रभावकारी अदाकारी की छाप छोड़ने में सफल हो रही थी। उनके साथ हारमोनियम पर संगत करने वाले उनके पति तुलसीराम देशमुख थे। पंडवानी गाते हुए वे बार-बार अपने संगतकारों की ओर मुखातिब हो जाती थीं और एकाएक तेज होती ध्वनि के साथ अपनी आवाज बुलंद करते हुए गायन को सार्थक कर देती थी।

पंडवानी गायन में शब्द बड़े ही सादे होते हैं फिर भी इनके प्रभावी होने के पीछे अभिव्यक्ति की महत्वपूर्ण भाषा काम करती है। तीजन बाई के मुख से "हे अर्जुन......" का मुस्कराहट भरा स्वर तथा संवाद अग्सी कुशलता को जाहिर करने के लिए पर्याप्त थे। पद्मश्री से अलंकृत होने के उपरान्त संभवतः उनका यह प्रथम मंच गायन था। प्रदर्शन के दौरान तीजन बाई ने दर्शकों को बोझिल नहीं होने दिया। उनकी परिपक्वता उसी प्रकार बढ़ती भी जा रही है। जिस प्रकार वे दर्शकों को पंडवानी की जानी पहचानी खुराक देती है, उसका अंदाज भिन्न है। एक घंटे से भी अधिक समय तक उनका गायन होता रहा।

तीजन बाई के बाद राजस्थानी भोपा शैली के गायन नाथूराम भोपा ने "पाबूजी की पड़" का गायन किया। भोपाल के दर्शक पहले पहल गायन की इस राजस्थानी शैली से रूबरू हुए। राजस्थान में यह लोक गायकी बहुत चर्चित है वहां पाबूजी ऊंटो के देवता माने जाते हैं। राजस्थान में जब किसी का ऊंट बीमार हो जाता है तो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऊंट पालने वाला संकल्प करता है कि जब उसका ऊंट ठीक हो जायेगा तो वह पाबूजी की पड़ कथा गवायेंगे। इस मान्यता के चलते ही भोपा गायकी राजस्थान की संस्कृति में भी शामिल हो गई। पाबूजी की पड़ गायन मंडली में प्रमुख गायक पुरुष होता है जो भोपा कहलाता है। साथ में एक महिला गायक होती है जो भोपी कहलाती है। इसके साथ तीसरा पुरुष खंजरी बजाता है। इस गायन में प्रमुख भोपा गायक एक साज भी बजाता है जो इकतारे की भांति होता है। इसे रावण हत्था कहते है। गायन में मंच के पीछे एक चादर बांधी जाती है जिसमें पाबूजी की पड़ कथा अंकित होती है। पाबूजी की केसर घोड़ी (जिसमें वे सवारी करते थे और विजयी होते थे का चित्र भी बना होता है। बगैर इस चादर के बांधे गायन नहीं होता है। चादर के सम्बन्ध में एक विशेष बात यह भी है कि इसे ज्योतिष ही बनाते हैं। परंपरागत राजस्थानी पोशाक में नाथूराम का गायन दर्शकों को सुखद अनुभूति देने वाला था। नाथूराम इस कला का प्रदर्शन देश विदेश में कर चुके हैं। कथा गायन प्रसंग के मौके मौके पर दर्शकों ने पहली बार एक मौलिक और प्रभावी लोक गाथा को सुना और आनंदित हुए। नाथूराम प्रसंगानुकूल स्वराभिव्यक्ति में माहिर हैं, यह उनके गायन से स्पष्ट हो ही रहा था, इसके अलावा जो एक विशेष बात उनमें नजर आई वह यह कि उनका गायन इतना सरल था कि दर्शकों को पहली बार सुनने में किसी भी किस्म की उक्ताहट महसूस नहीं हुई। रावण हत्था एक नया साज था जो राजस्थान की मिट्टी और वहां के माहौल को संगीतमय अनुभुति प्रदान कर रहा था। कथा गायन में भोपा और पंडवानी की प्रस्तुतियां कुल मिलाकर आनन्ददायक थी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रहस

बसंत निरगुणे

छत्तीसगढ़ी रहस का आयोजन करना अपने आप में एक अनुष्ठान है । रहस में अनुष्ठान का जितना ध्यान रखा जाता है उतना ही वह व्यय साध्य भी है इसलिए रहस के आयोजन बहुत कम होते जा रहे हैं । एक रहस के आयोजन में लगभग पाँच सात हजार से लगाकर बीस पच्चीस हजार रुपये खर्च होते हैं । पहले कभी एक एक व्यक्ति रहस आयोजन की मनौती लेता था और नौ दिवसीय रहस का पूरा खर्च उठाता था । यह बात अलग होती है कि गाँव वाले आयोजन को सफल बनाने में पूरी मदद करते हैं । वह आयोजन पूरे गाँव का हो जाता है । गाँव वाले श्रम के साथ आर्थिक मदद करते हैं । कलाकारों को ठहराने और उनके भोजन की व्यवस्था प्रायः गाँव वाले ही करते हैं इसके साथ ही स्वेच्छा से नौ दिन तक आने वाले रिश्तेदारों–दर्शक–श्रोताओं को भोजन कराने का वे पुण्य लाभ भी लेते हैं । यह गाँव वालों के लिए रहस के आयोजन का अतिरिक्त खर्च होता है । जब कोबिया बेमेतरा में परिषद् द्वारा रहस का पाँच दिवसीय आयोजन करने का निश्चय किया गया तो इस बात का सामना करना पड़ा कि दर्शक मेहमानों को खिलाने के लिए बोरा भर चावल कहाँ से लाएगा ? परन्तु रहस आयोजन के पीछे परिषद् का मूल उद्देश्य इस मिटते हुए कला रूप को बचाने की सच्ची कोशिश है । यह जानकर लोग इस आयोजन में हाथ बटाने के लिए सहर्ष तैयार हो गये । रहस के आयोजन की पूर्व तैयारी में परम्परानुसार एक महीने से अधिक का समय लगता है । 21 अप्रैल से 25 अप्रैल 88 रहस की तिथि निश्चित की गई थी । इसलिए मार्च महीने में ही इसकी तैयारी शुरू की गई । पहले कोबिया के बी. टी. आई. प्रांगण में विधि विधान से थुन्ह स्थापित किया गया । रहस की मूर्तियां बनाने वाले मूर्तिकार श्री अंजोरदास और रामाधारी जगमोहन की मण्डली को रुपया नारियल देकर इसी दिन आमंत्रित किया गया । इसी दिन मूर्तिकार मूर्तियाँ बनाना शुरू करता है और रहस का बेड़ा यानी मंच भी बनाना शुरू हो जाता है । बेड़े का निर्माण कोबिया के श्री रतनलाल कोसरिया ने किया । रहस आयोजन की मूल परम्परा बिलासपुर और दुर्ग के सतनामियों में खासतौर से प्रचलित है । बिलासपुर और दुर्ग में प्रचलित रहस में आंचलिक प्रभावों के कारण पर्याप्त फर्क है । रानी गाँव और भरनी बिलासपुर में आयोजित रहस में यह अन्तर नहीं दिखाई दिया लेकिन कोबिया में दुर्ग जिले की रहस मण्डलियों की प्रस्तुति देखने के बाद यह बात स्पष्ट हुई । बिलासपुर में रहस का स्वरूप अर्थात् कृष्ण चरित लीला का प्रभाव अक्षुण्ण है, जबकि दुर्ग अंचल में रहस पर परम्परागत छैला पार्टियों का वर्चस्व और दबाव सर्वोपरि है । दुर्ग के दर्शक गम्मत को ही महत्व देते हैं । यह भी सर्व विदित है कि दुर्ग जिले की मंडलियों में बिलासपुर अंचल के रासधारी, नचकार, परी-जोकर आदि कलाकार आते जाते रहते हैं । परन्तु यह बात साफ है कि दुर्ग में रहस की वैसी गरिमामय प्रतिष्ठा नहीं है, जैसी बिलासपुर के गाँवों और दर्शकों के मन में है । इसका परिणाम स्वरूप यहां रहस में कृष्ण चरित की सम्पूर्ण लीला गौण होती जा रही है और उस पर गम्मत, छैला पार्टी या नाच पार्टी हावी होती चली जा रही है । यह रहस के लिये शुभ नहीं हैं । रहस की मूल गौरवशाली परम्परा को बचाना जरूरी है । रहस में गम्मत, छैला या नाचपार्टी के हास्य की भागीदारी एक सीमा तक संतुलित होना चाहिए । नहीं तो हास्य पर फूहड़ता और अश्लीलता का रंग चढ़ने में देर नहीं लगेगी । यह प्रश्न दुर्ग के अंचल के रहस को देखकर सहज ही उठ होता है ?

रहस का शुभारम्भ ग्राम घटोली के रासधारी श्री जगमोहन की मंडली से हुआ । प्रथम तीन दिनों में कृष्ण जन्म, माखन चोरी, दावरी बंधन, राधा मिलन और कालिया मर्दन की लीलाएं रासधारी श्री जगमोहन ने पारम्परिक शैली में प्रस्तुत की । रासधारी श्री जगमोहन ने रहस की उस सात्विक और पवित्र परम्परा का निर्वाह किया, जो रहस के लिये अनिवार्य है । श्री जगमोहन जी का कथा-कथन प्रभावशाली था, उनके सभी पात्र प्रसंग के अनुकूल सयमित और मर्यादित थे । खासकर जगमोहन जी के नचकारों की अदायगी लय ताल बद्ध थी । जगमोहन ने प्रसंगों के संक्षिप्तिकरण में सूत्रों को बिखरने नहीं दिया । जगमोहन के रहस में ग्राम खटई की नाच पार्टी के रविदास और छेदी के जोकरपरी की गम्मत ने दर्शकों को हसने-हंसाने का उन्मुक्त अवसर दिया । जगमोहन जी की रहस मंडली इसलिए याद की जाती रहेगी कि रहस का लोकसंगीत, नृत्य, अभिनय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

और नाटक का समन्वय एक हद तक रहस की मूल आत्मा का दिग्दर्शन कराने में सफल रहा है। हालांकि नाच पार्टी पर रासधारी को निर्भर नहीं रहना चाहिए। नाच रहस के पीछे है। इसलिए हासिये को पूर्ण फलक बनने में जो हानि होती है, वह तो होनी ही है।

भटगांव के रासधारी श्री कन्हैयालाल की मंडली द्वारा अंतिम दो दिनों में रासलीला के शेष प्रसंग पनघट लीला, चीरहरण, गोवर्धन पूजा, दान लीला वंसी लीला, महारास और कंशवध प्रस्तुत किये गये। खड़े रास के रासधारी श्री कन्हैया लाल ने इन प्रसंगों को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत नहीं किया और न ही इसके लिए उन्होंने कोशिश की। इनकी लीला में मौखिक कथावाचन की तरह प्रसंगों का निर्वाह जल्दी-जल्दी किया गया। प्रसंगों का अभिनय पक्ष भी बहुत ही कमजोर था। इनकी लीला में उस तरह का न तो आकर्षण था और न कसावट थी जिस तरह जगमोहन की रहस मंडली में थी। कन्हैयालाल जी की मंडली का केवल संगीत पक्ष उल्लेखनीय था। दो-दो चिकारों की संगत से रहस का गीत संगीत जीवन्त लग रहा था। कृष्ण और अन्य पात्रों की अनुकूल वेशभूषा पर भी ध्यान नहीं दिया गया था। कृष्ण सिर पर मुकुट धारण किये हुए पेंट पहनकर बेड़े में अभिनय कर रहे थे। श्री कन्हैयालाल के रहस में जल्दबाजी और असहनीय शिथिलता थी। कल्पनाशीलता के अभाव में रहस उभरकर नहीं आया।

इस रहस मंडली के साथ जेठूराम-पकलाराम की प्रसिद्ध नाच पार्टी थी। इस नाच पार्टी को खासतौर से बेमेतरा के लोगों की मांग पर आमंत्रित किया गया था। इसमें कोई शक नहीं कि जेठूराम और पकलाराम गम्मत के श्रेष्ठ प्रतिष्ठित कलाकारों में से एक हैं और इसी के अनुरूप उन्होंने दोनों दिन अच्छे प्रहसन प्रस्तुत किये। जेठूराम और पकलाराम ने दर्शकों को अपने लम्बे प्रहसनों से पूरी रात बाँधे रखा और भरपूर मनोरंजन किया। दोनों कलाकार इतने सिद्ध हैं कि अपने संवादों और अभिनय से उन्होंने दर्शक श्रोताओं को जहाँ हंसाया है, वही करुण प्रसंगों में रुलाया भी है। लेकिन एक ही बात अखरने वाली थी कि इस नाच पार्टी के कारण रहस पूरी तरह दब गया था। दबाव का अन्दाज इसी से हो सकता है कि रहस केवल शुरू के एक या दो घन्टे में होता है। जब कि छैला नाच-गम्मत एक बार बेड़े में आ जाने के बाद वे सुबह आठ बजे तक प्रहसन करते थे। यह स्थिति रहस को गौण कर देने के लिए काफी है। रहस के शुभचिंतकों-कलाकारों को चाहिए कि दुर्ग जिले में रहस के मूल नाट्य की पारम्परिक प्रतिष्ठा बनाये रखें वर्ना फिल्मी फूहड़ता उसे लीलने में चूकेगी नहीं।

रहस का सबसे महत्वपूर्ण आकर्षण रहस की मूर्तियाँ होती हैं। रहस की मूर्तियों का निर्माण एक महीने पहले थुन्ह गड़ने के साथ शुरू होता है। बेड़े के अन्दर दस बारह मूर्तियां स्थापित होती हैं और

बेड़े के बाहर समय और क्षमता के अनुसार ?0 70 तक मूर्तियाँ बनाई जाती हैं। बेमेतरा के निवासी अंजोरदास रहस की मूर्तियां बनाने वाले श्रेष्ठ कलाकार हैं। पचपन वर्षीय अंजोरदास गणेश की मूर्तियां गढ़ने से प्रारम्भ कर रहस की विशालकाय और सुन्दर मूर्तियां बनाने वाले कलाकार के रूप में स्व प्रेरणा से प्रतिष्ठित हुए। अंजोरदास ने बीस बाइस वर्ष पहले मूर्ति कला की यात्रा शुरू की थी। आज वे रहस के शीर्षस्थ कलाकार हैं। एक महीने के अथक प्रयास से श्री अंजोरदास और उनके सहयोगी दामाद श्री गणेश-प्रसाद ने गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, हनुमान, गरुण, शुकदेव, कृष्ण-अर्जुन का रथ, रासलीला, कुवलिय हाथी, पूतना, कंस, राधा-कृष्ण, लक्ष्मण-बूढ़ी-पृथ्वी आदि की अत्यन्त सुन्दर और प्रसंगानुकूल मिट्टी की मूर्तियां बनाई थी। भीम की विशालकाय मूर्ति बनाने में श्री अंजोरदास का सन्तुलन देखने को मिलता है। चौबीस फीट ऊंची भीम की विराट मूर्ति दर्शकों को दूर से ही आकर्षित करने में समर्थ थी।

कहना नहीं होगा कि इस मिटते हुए अद्वितीय कला रूप को बचाने के प्रयास में परिषद् की भूमिका महत्वपूर्ण ही नहीं बल्कि निर्विवाद भी है। रहस के पिछले तीन आयोजन से रहस के कलाकारों, रासधारियों, दर्शक श्रोताओं में जो जागरूकता का अहसास हुआ है वह किसी बड़ी उपलब्धि से कम नहीं है, रहस पर नाट्य कर्मियों, नाट्य आलोचकों, लेखकों, साहित्यकारों की नजर पड़ी है। रहस पर अभी शोधकार्य और बहुत गम्भीर लेख नहीं लिखे गये लेकिन परिषद् के आयोजन के बाद कुछ उल्लेखनीय लेख लेखकों ने लिखे हैं। अखबारों में व्यापक सामग्री छपी है। कई पत्रकार रहस के प्रति सजग हुए हैं। वास्तव में रहसलीला की रामलीला की तरह उसकी शक्ति, लोकआस्था, लोकनाटय और लोकसंगीत की ऊर्जा को पहचानना जरूरी है।

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पंडवानी प्रसंग-88

राजीव सक्सेना

यों तो सभ्यता मनुष्य के विकास और उन्नति की परिचायक है लेकिन विकास कभी एकांगी नहीं होता। सद और असद दोनों पक्षों का विकास एक साथ होता है। इसलिए मूल मानवीय भावनाओं और वृत्तियों का संघर्ष सदा से मानवीय विकास का अभिन्न अंग रहा है। किसी कवि नेलिखा है "आदमी तब था / जब न भाषा थी / कला थी आदमी/बस आदमी था/आदमी का/छल नहीं था"/ ये पंक्तियां निश्छल मनुष्य की गंध से सराबोर है। आदमी सभ्यता के जीवित चिन्ह तो कहीं शेष नहीं है परन्तु प्राचीन इतिहास और संस्कृति की तीर्थ स्थली मध्यप्रदेश भूमि के एक तिहाई भूखण्ड पर आदिवासी सभ्यता मौजूद है। जो समकालीन सभ्यता की तरह विकसित तो नहीं है किंतु उनकी कलाओं और संस्कृति अभी तक छल प्रपंचों से मुक्त है। उनका गायन, उनका संगीत, उनकी कलाएं सार्वभौमिक है। क्षेत्रियता के बन्धन या घरानों जैसी जकड़बंदी उनमें नहीं है इस उजली परम्परा का ही एक रूप है छत्तीसगढ़ में प्रचलित पंडवानी नामक लोक गायन !

पंडवानी, जैसाकि नाम से ध्वनित होता है; पाण्डवों की कथा है। ये कथा श्रुति परम्परा से आती है न कि किसी महाकाव्य से। श्रुति परम्परा के कारण इसकी गायन शैली और प्रस्तुति में हमेशा लोक जीवन के ताजे रंग जगमगाते नजर आते हैं। जुलाई 17 से 19 तक रायपुर के महाराष्ट्र सभा गृह में ऐसे ही रंगों का एक मेला म.प्र. आदिवासी लोककला परिषद् के तत्वावधान में जुड़ा था। इस महत्वपूर्ण आयोजन में पन्डवानी के सभी सिद्ध साधकों को आमंत्रित किया गया था।

पंडवानी की दो प्रचलित गायन शैलियाँ हैं जो क्रमश: वेदमती और कापालिक शैलियों के नाम से जानी जाती है। शास्त्रीय नृत्य में जो नाट्य अथवा अभिनटन पक्ष होता है वह इस पारम्परिक कथा कथन शैली का प्रमुख आकर्षण है। पण्डवानी गायक विभिन्न मुद्राओं और भावाभिनय के द्वारा नवों रसों का प्रभाव पैदा करता है और महाभारतीय दंतकथाओं और किवंदत्तियों का अनुगायन करता है। संगीत और वाद्यों के सहयोग से अद्भुत समां बंधता है। एकल अभिनय करते हुए अपने स्वराधार तम्बूरे से वह गायक कभी गदा, कभी धनुष, कभी तलवार के रूप में प्रयोग करते हुए दर्शक को चमत्कृत करता है।

पण्डवानी प्रसंग 88 की पहली सभा का शुभारम्भ तीजनवाई ने "आदि पर्व पर" के "भीष्म जन्म" प्रसंग को अपनी चिरपरिचित शैली में गाकर किया। उसकी प्रस्तुति हमेशा की तरह चमत्कारिक रहीं। पाम्परिक श्रोताओं को उनके विश्वव्यापी पर्यटन प्रसिद्ध और सम्मान के कारण झलकता हुआ आत्मविश्वास तो अच्छा लगा लेकिन प्रस्तुति में लोकप्रिय तत्व के बढ़ते अनुपात को पसंद नहीं किया गया, भद्र समाज के श्रोताओं को उनके अतिरेक पर ऐतराज रहा। इस सभा में चैतीवाई साहू ने "अम्बा अम्बालिका" जन्म चन्द्राकर ने "कौरव पाण्डव जन्म" और "द्रोपदी स्वयंवर" शोमे शास्त्री ने "अर्जुन हनुमान मिलन" और "राजसूय यज्ञ" प्रसंगों का क्षमता भर बेहतर प्रस्तुतिकरण किया, लेकिन तीजनवाई जैसी समर्थ कलाकार के बाद वे दर्शकों को उस तरह नहीं बांध पाये। दर्शकों को अधूरी प्यास लिए ही लौटना पड़ता, यदि सभा का समापन झडूराम देवांगन ने "द्रोपदी:चीर हरण" "दुर्वाषा परीक्षा" और "अर्जुन उर्वशी-शाप" प्रसंगों को गाकर न किया होता।

दूसरी सभा तीजनबाई के शिष्यों राजाराम साहू (शंकर अर्जुन युद्ध" और उर्वशी शाप) और उषा बारले ("हनुमान भीष्म मिलन") प्रसंग से शुरू हुई, जिनमें विपुल संभावनाए देखी गयी, और लगा कि तीजनवाई ने अपने शिष्यों को अपना सा ही आत्म-विश्वास दिया है। कुमारी बाई निषाद प्रसंग की अकेली षोड़षी गायिका थी। जिन्होंने "द्रोपदीहरण" गाकर दर्शकों की शाबासी लूटी। लक्ष्मीबाई ने अपनी पृथक पहचान को कायम रखते हुए सभा-कार को कलात्मक ऊर्जा से भर दिया। विशालदास ने पैरों में घुंघरू बांधकर नारदीय शैली में "गौ हरण का प्रभावी नृत्याभिनय प्रस्तुत किया, जिसे दर्शकों की भूरि-भूरि प्रशंसा मिली। इस कला संध्या को विराम दिया पूनाराम निषाद द्वारा प्रस्तुत "गीता उपदेश" "शंख-वध" "भीष्मसरसैया" के लयात्मक कथा गायन ने समापन स्तर के अनुरूप रहा।

प्रसंग की समापनी संध्या का रोचक आरम्भ शांतिवाई चेलक के "कमल बिहु युद्ध" प्रसंग की चमत्कारिक प्रस्तुति से हुआ। शांतिबाई ने पण्डवानी में अपने सुरक्षित स्थान की सारी सम्भावनाएँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उजागर कर दी हैं । पार्वती वर्मा अपने नागर संस्कारों के कारण "कर्णवध" प्रसंग को वांछित सहजता और खुलेपन से प्रस्तुत नहीं कर पाई । जबकि गायन, नृत्य और अभिनय से सजे हुए रेवाराम गंजीर के "दुर्योधन वध" प्रसग ने दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर दिया । इस सभा में रस उद्रेक का ग्राफ चढ़ता-उतरता रहा । फूलबाई साहू ने "अश्वमेघ यज्ञ" बहुत साधारण ढंग से प्रस्तुत किया ।

प्रसंग का समापन पण्डवानी के शीर्षस्थ गायक झाड़ूराम देवांगन ने किया । प्रथम और अन्तिम सभाओं की अपनी दोनों प्रस्तुतियों से उन्होंने यही सिद्ध किया कि अपने समकालीनों में उनका कोई सानी नहीं है । उन्होंने शांति पर्व के "स्वर्गारोहण" जैसे कठिन प्रसंग को प्रस्तुत किया और लगभग पौन घण्टे तक मंत्रविद्ध दर्शकों को अपने स्वरों के जादू में जकड़े रखा । विविध रसों वाले इस प्रसंग को निर्वेदभाव वाले शांत रस में सफलतापूर्वक समाहार की सामर्थ्य बिरले गायकों में ही होती है । और कहना न होगा कि श्री देवागन इस कोटि के सफलतम गायक हैं ।

दर्शकों की सख्या और रुचि को देखते हुए निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कुल मिलाकर तीन दिन का यह आयोजन सफल था । नागर सभ्यता को लोकरंगों से अभिषिक्त किया जा सके, बल्कि लोक कलाओं को पुनराविष्कार के अधिक अवसर दिये जा सकें, इसलिए ऐसे प्रसंगों की बहुत आवश्यकता है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मध्यप्रदेश आदिवासी लोक कला परिषद् के महत्वपूर्ण प्रकाशन

मुरिया	मुरिया जनजाति के साहित्य संस्कृति और कला पर केन्द्रित	नवल शुक्ल	पाँच रुपए
कोरकू	कोरकू जनजाति के साहित्य संस्कृति और कला पर केन्द्रित	वसंत निरगुणे	पाँच रुपए
बैगा	बैगा जनजाति के साहित्य संस्कृति और कला पर केन्द्रित	वसंत निरगुणे	पाँच रुपए
भील	भील जनजाति के साहित्य संस्कृति और कला पर केन्द्रित	महेश शांडिल्य	पाँच रुपए
पंडवानी	झाडूराम देवांगन और पंडवानी गायकी पर केन्द्रित	नन्दकिशोर तिवारी	पन्द्रह रुपए
राई	राई नृत्य पर केन्द्रित	माधव शुक्ल मनोज	पन्द्रह रुपए
भील भगोरिया	भील जनजाति और भगोरिया पर्व पर केन्द्रित	मांगीलाल सोलंकी	पन्द्रह रुपए
संजा	मालवा के चित्रकला पर केन्द्रित	डॉ. शिव कुमार मधुर	पन्द्रह रुपए
काठी	निमाड़ की काठी नृत्य पर केन्द्रित	वसंत निरगुणे	पन्द्रह रुपए
गोंड	गोंड जनजाति के साहित्य संस्कृति और कला पर केन्द्रित	शेख गुलाब	पन्द्रह रुपए
देवार	देवार जाति के साहित्य, संस्कृति और कला पर केन्द्रित	निरंजन महावर	पन्द्रह रुपए
बसदेवा	बुन्देलखण्ड बघेलखण्ड और छत्तीसगढ़ की बसदेवा गायकी पर केन्द्रित	नवल शुक्ल	पन्द्रह रुपए
भारिया	पातालकोट की भारिया जनजाति पर केन्द्रित	वसंत निरगुणे	पन्द्रह रुपए
दण्डामी माड़िया	बस्तर के दण्डामी माड़िया के साहित्य संस्कृति और कला पर केद्रित	नवल शुक्ल	तीस रुपए
सहरिया	सहरिया जनजाति के साहित्य संस्कृति और कला पर केन्द्रित	वसंत निरगुणे	तीस रुपए

मुद्रक : एम. एम. प्रिंटर्स सदर मंजिल भोपाल।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi